



।भाषाकार का मंगलाचरण॥

सकल कर्म रज दूर कर, सर्व पूज्य पद पाय।  
 सिद्धि-योग्य अरहंतको, बंदू शीस नवाय।॥१॥  
 अष्ट कर्म को नष्ट कर, पा अष्टम क्षितिराज।  
 अक्षय अगणित गुण-धनी, जयवंतो शिवराज।॥२॥  
 जो शिव-मग-पर नित्य ही चलें चलावें आप।  
 ये गणधर आचार्य मम, हरें सकल संताप।॥३॥  
 उपदेशें शिवमार्गको, पाठक बन सुखदाय।  
 ध्यान धरें निजरूपका, यशोमूर्ति उवझाय।॥४॥  
 साधें आतम रूपको, धुनें पाप दुखदाय।  
 वे असहाय-सहाय-कर, मेरी करहिं सहाय।॥५॥  
 वीरवदन-निर्गत-अमल-ज्ञान-सलिल-मयधार।  
 बहा बहा जगदम्ब ! तू, करे जगत उपकार।॥६॥  
 नय-कर-रवि, श्रुत-धर तथा, विनिहत मदन प्रसार।  
 श्रीगुणधरकी वन्दना, करता बारंबार।॥७॥  
 बहु-नय-गर्भित, गहन अति, अमित अर्थ-संयुक्त।  
 जिन कसायपाहुड रचा, अनुपम गाथा युक्त।॥८॥  
 यतियोंमें वर वृषभ हैं, श्री यतिवृषभ महन्त।  
 चूर्णिसूत्रके रचयिता, वन्दूं सदा नमन्त।॥९॥



श्रीमद्भगवद् गुणधराचार्य-प्रणीत

ॐ कसाय पाहुड सुत्त ॐ

।मंगलाचरण॥

राग-द्वेष जग-मूल हैं, उनका मूल कषाय।  
 वीतराग जिनदेवको, वन्दूं शीस नवाय॥  
 श्री गुणधराचार्य इस ग्रन्थ के सम्बन्ध आदि बतलाने के लिए  
 गाथासूत्र कहते हैं—  
 पुव्वम्मि पंचम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिए।  
 पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम।॥१॥  
 अर्थ—पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु में पेज्जापाहुड नामक तीसरा  
 अधिकार है, उससे यह 'कसायपाहुड' उत्पन्न हुआ है॥  
 अब इन पन्द्रह अर्थाधिकारों के नामनिर्देश के साथ एक-एक  
 अर्थाधिकार में कितनी-कितनी गाथाएँ निबद्ध हैं, इस बात को  
 बतलाते हुए गुणधराचार्य प्रतिज्ञासूत्र कहते हैं—  
 गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि।  
 वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि।॥२॥

अर्थ—इस कसायपाहुड में एक सौ अस्सी गाथासूत्र हैं। वे गाथासूत्र पन्द्रह अर्थाधिकारों में विभक्त हैं। उनमें से जिस अर्थाधिकार में जितनी-जितनी सूत्रगाथाएँ प्रतिबद्ध हैं, उन्हें मैं (गुणधराचार्य) कहूँगा २।

पेज्ज-दोसविहत्ती द्विदि अणुभागे च बंधगे चेव ।

तिण्णेदा गाहाओ पंचसु अत्थेसु णादव्वा । ३ ॥

अर्थ—प्रेयोद्वेषविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, बन्धक अर्थात् बन्ध और संक्रम, इन पाँच अर्थाधिकारों में 'पेज्ज वा दोसं वा' इत्यादि प्रथम गाथा, 'पयडी य मोहणिज्जा' इत्यादि द्वितीय गाथा, 'कदि पयडीओ बंधदि' इत्यादि तृतीय गाथा, ये तीन गाथाएँ निबद्ध हैं, ऐसा जानना चाहिए ३।

चत्तारि वेदयम्मि दु उवजोगे सत्त होंति गाहाओ ।

सोलस य चउट्ठाणे वियंजणे पंच गाहाओ । ४ ॥

अर्थ—वेदक नाम का छठा अर्थाधिकार है, उसमें चार सूत्रगाथाएँ निबद्ध हैं। उपयोग नामका सातवाँ अर्थाधिकार है, उसमें सात सूत्रगाथाएँ निबद्ध हैं। चतुःस्थान नाम का आठवाँ अर्थाधिकार है, उसमें सोलह सूत्रगाथाएँ निबद्ध हैं। व्यंजन नामका नवाँ अर्थाधिकार है, उसमें पाँच सूत्रगाथाएँ निबद्ध हैं ४।

दंसणमोहस्सुवसामणाए पणारस होंति गाहाओ ।

पंचेव सुत्तगाहा दंसणमोहस्स खवणाए । ५ ॥

अर्थ—दर्शनमोह-उपशामना नामका दशवाँ अर्थाधिकार है, उसमें पन्द्रह सूत्रगाथाएँ निबद्ध हैं। दर्शनमोह-क्षपणा नामका ग्यारहवाँ अर्थाधिकार है, उसमें पाँच ही सूत्रगाथाएँ निबद्ध हैं ५।

लद्धी य संजमासंजमस्स लद्धी तहा चरित्तस्स ।

दोसु वि एक्का गाहा अट्ठेवुवसामणद्धम्मि । ६ ॥

चत्तारि य पट्ठवए गाहा संकामए वि चत्तारि ।

ओवट्ठणाए तिण्णि दु एक्कारस होंति किट्ठीए । ७ ॥

अर्थ—संयमासंयम-लब्धि नामका बारहवाँ अर्थाधिकार है और चारित्र-लब्धि नामका तेरहवाँ अर्थाधिकार है। इन दोनों ही अर्थाधिकारों में एक गाथा निबद्ध है। चारित्रमोह-उपशामना नामका चौदहवाँ अर्थाधिकार है। इसमें आठ सूत्रगाथाएँ सम्बद्ध हैं ६।

चारित्रमोह की क्षपणा का जो जीव प्रस्थापक होता है, उसके विषय में चार गाथाएँ हैं। संक्रमण में चार गाथाएँ प्रतिबद्ध हैं। अपवर्तना में तीन गाथाएँ और कृष्टीकरण में ग्यारह गाथाएँ निबद्ध हैं ७।

चत्तारि य खवणाए एक्का पुण होदि खीणमोहस्स ।

एक्का संगहणीए अट्ठावीसं समासेण । ८ ॥

अर्थ—कृष्टियों की क्षपणा में चार गाथाएँ निबद्ध हैं। क्षीणमोह-वीतराग-छद्मस्थ के विषय में एक गाथा है। संग्रहणी के विषय में एक गाथा सम्बद्ध है। इसप्रकार सब मिलाकर चारित्रमोह-क्षपणा नाम के पन्द्रहवें अर्थाधिकार में अट्ठाईस गाथाएँ प्रतिबद्ध हैं ४।

चारित्रमोहक्षपणा नाम के पन्द्रहवें अर्थाधिकार में जो अट्ठाईस गाथाएँ बतलाई गई हैं, उनमें सूत्रगाथाएँ कितनी हैं और असूत्रगाथाएँ कितनी हैं, यह बतलाने के लिए आचार्य दो गाथासूत्र कहते हैं—

किट्टीकयवीचारे संगहणी खीणमोहपट्टवए।  
सत्तेदा गाहाओ अण्णाओ सभासगाहाओ। ९॥  
संकामण ओवट्टण किट्टीखवणाए एक्कवीसं तु।  
एदाओ सुत्तगाहाओ सुण अण्णा भासगाहाओ। १०॥

वे भाष्य-गाथाएँ कौन-कौन हैं, और किस-किस अर्थ में कितनी-कितनी भाष्य-गाथाएँ हैं, यह बतलाते हुए भाष्य-गाथाओं के प्ररूपण करने के लिए आगे गी दो सूत्र-गाथाएँ कहते हैं—

पंच य तिण्णि य दो छक्क चउक्क तिण्णि तिण्णि एक्का य।  
चत्तारि य तिण्णि उभे पंच य एक्कं तह य छक्कं। ११॥  
तिण्णि य चउरो तह दुग चत्तारि य होंति तह चउक्कं च।  
दो पंचेव य एक्का अण्णा एक्का य दस दो य। १२॥

अर्थ—कृष्टि-सम्बन्धी ग्यारह गाथाओं में से ग्यारहवीं वीचार-

सम्बन्धी एक गाथा, संग्रहणी-सम्बन्धी एक गाथा, क्षीणमोह-सम्बन्धी एक गाथा और प्रस्थापक-सम्बन्धी चार गाथाएँ; इसप्रकार ये सात गाथाएँ सूत्रगाथाएँ नहीं हैं। इनके सिवाय शेष अन्य सभाष्य गाथाएँ हैं। संक्रामण-सम्बन्धी चार गाथाएँ, अपवर्तना सम्बन्धी तीन गाथाएँ, कृष्टि-सम्बन्धी दश गाथाएँ और कृष्टि-क्षपणा-सम्बन्धी चार गाथाएँ; ये सब मिलाकर इक्कीस सूत्र-गाथाएँ हैं। अब इन इक्कीस सूत्र-गाथाओं की जो अन्य भाष्य-गाथाएँ हैं, उन्हें सुनो ९-१०।

चारिमोहक्षपणा-सम्बन्धी इक्कीस सूत्र-गाथाओंकी भाष्य-गाथा-संख्या क्रमशः पाँच, 'तीन, दो और छह' चार, तीन, तीन, एक, चार, तीन, दो, 'पाँच, एक और छह', तीन, चार, दो, चार, चार, दो, पाँच, एक, एक, दश और दो है ११-१२।

अब कषायपाहुड के पन्द्रह अर्थाधिकारों के निरूपण करने के लिए गुणधराचार्य दो सूत्रगाथाएँ कहते हैं—

1. पेज्ज-दोसविहत्ती द्विदि अणुभागे च बंधगे चेय।  
वेदग उवजोगे वि य चउट्ठाण वियंजणे चेय। १३॥
2. सम्मत्त देसविरयी संजम उवसामणा च खवणा च।  
दंसण-चरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्वेसो। १४॥

अर्थ—कसायपाहुड में वर्णन किये जानेवाले पन्द्रह अर्थाधिकारों के नाम इसप्रकार हैं—१. प्रेयोद्वेषविभक्ति, २. स्थितिविभक्ति, ३.

अनुभागविभक्ति, 4. अकर्मबन्धकी अपेक्षा बन्धक, 5. कर्मबन्धकी अपेक्षा बन्धक अर्थात् संक्रामक, 6. वेदक, 7. उपयोग, 8. चतुःस्थान, 9. व्यञ्जन, 10. दर्शनमोह- उपशामना, 11. दर्शनमोह-क्षपणा, 12. देशविरति, 13. सकलसंयम, 14. चारित्रमोह-उपशामना, और 15. चारित्रमोह-क्षपणा। ये पन्द्रहों अर्थाधिकार दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दोनों मोहकर्म प्रकृतियों से ही सम्बन्ध रखते हैं। (शेष सात कर्मों का इस कसायपाहुड में कोई प्रयोजन नहीं है।) अद्धापरिमाण नाम का कालप्रतिपादक अर्थाधिकार उक्त पन्द्रहों अर्थाधिकारों में प्रतिबद्ध समझना चाहिए ॥3-14।

अब, जिसके जाने बिना प्रस्तुत ग्रन्थ के अर्थाधिकारों का ठीक ज्ञान नहीं हो सकता, और जो पन्द्रहों अधिकारों में साधारणरूप से व्याप्त है, उस अद्धा-परिणाम का गाथासूत्रकार सबसे निर्देश करते हैं—

**आवलय अणायरे चक्खिंदिय-सोद-घाण-जिष्साए।**

**मण-वयण-काय-पासे अवाय-ईहा-सुदुस्सासे ॥5॥**

**अर्थ—**अनाकार दर्शनोपयोग, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रिय-सम्बन्धी अवग्रहज्ञान, मनोयोग, वचनयोग, काययोग, स्पर्शनेन्द्रिय-सम्बन्धी अवग्रहज्ञान, अवायज्ञान, ईहाज्ञान, श्रुतज्ञान

और उच्छ्वास, इन सब पदों का जघन्यकाल क्रमशः उत्तरोत्तर विशेष-विशेष अधिक है, तथापि वह संख्यात आवलीप्रमाण है ॥5॥

**केवलदंसण-णाणे कसायसुक्केक्कए पुधत्ते य।**

**पडिवादुवसामेतय खवेतए संपराए य ॥6॥**

**अर्थ—**तद्भवस्थ-केवली के केवलदर्शन, केवलज्ञान और सकषाय जीवके शुक्ललेश्या, इन तीनों का; एकत्ववितर्क-अवीचारशुक्लध्यान, पृथक्त्ववितर्कवीचारशुक्लध्यान, प्रतिपाती उपशामक, आरोहक उपशामक और क्षपक सूक्ष्मसाम्परायसंयत; इन सबका जघन्यकाल क्रमशः उत्तरोत्तर विशेष-विशेष अधिक है ॥6॥

**माणद्धा कोहद्धा मायद्धा तहय चेव लोहद्धा।**

**खुद्भवग्गहणं पुण किट्ठीकरणं च बोद्धव्वा ॥7॥**

**संकामण-ओवट्टण-उवसंतकसाय-खीणमोहद्धा।**

**उवसामेतय-अद्धा खवेत-अद्धा य बोद्धव्वा ॥8॥**

**अर्थ—**मानकषाय, क्रोधकषाय, मायाकषाय और लोभकषाय, तथा क्षुद्रभवग्रहण और कृष्टीकरण, इनका जघन्य काल उत्तरोत्तर विशेष विशेष अधिक है ऐसा जानना चाहिए ॥7॥

संक्रामण, अपवर्तन, उपशान्तकषाय, क्षीणमोह, उपशामक और क्षपक, इनके जघन्य काल क्रमशः उत्तरोत्तर विशेष-विशेष अधिक जानना चाहिए ॥8॥

णिव्वाधादेणेदा होंति जहण्णाओ आणुपुव्वीए ।

एत्तो अणानुपुव्वी उक्कस्सा होंति भजियव्वा ।।१९।।

अब उपर्युक्त पदों का उत्कृष्ट काल कहते हैं—

चक्खू सुदं पुधत्तं माणोवाओ तहेव उवसंते ।

उवसामेंतय-अद्धा दुगुणा सेसा हु सविसेसा ।।२०।।

अर्थ—ये ऊपर बतलाये गये सर्व जघन्य काल निर्व्याघात अर्थात् मरण आदि व्याघात के बिना होते हैं । (क्योंकि, व्याघातकी अपेक्षा तो उक्त पदों का जघन्य काल क्वचित् कदाचित् एक समय भी पाया जाता है ।) ये उपर्युक्त जघन्य काल-सम्बन्धी पद आनुपूर्वी से कहे गए हैं । अब इससे आगे जो उत्कृष्ट काल-सम्बन्धी पद कहे जानेवाले हैं, उन्हें अनानुपूर्वी से अर्थात् परिपाटीक्रम के बिना जानना चाहिए ।।१९।।

चक्षुरिन्द्रियसम्बन्धी मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, पृथक्त्व-वितर्कवीचारशुक्लध्यान, मानकषाय, अवायमतिज्ञान, उपशान्त-कषाय और उपशामक, इनके उत्कृष्ट कालों का परिमाण अपने पूर्वर्ती पद के काल से दुगुना दुगुना है । उक्त पदों के अतिरिक्त अवशिष्ट पदों के उत्कृष्ट कालों का परिमाण स्वपूर्व पद से विशेष अधिक है ।।२०।।

अब पेज्जदोसविहत्ती नामक प्रथम अर्थाधिकार में प्रतिबद्ध गाथासूत्र को कहते हैं—

3. पेज्जं वा दोसो वा कम्मि कसायम्मि कस्स व णयस्स ।

दुट्ठो व कम्मि दव्वे पियायदे को कहिं वा वि ।।२१।।

अर्थ—किस-किस कषाय में किस-किस नय की अपेक्षा प्रेय या द्वेष का व्यवहार होता है ? अथवा कौन नय किस द्रव्य में द्वेष को प्राप्त होता है और कौन नय किस द्रव्य में प्रिय के समान आचरण करता है ? ।।२१।।

4. पयडीए मोहणिज्जा विहत्ती तह ड्ढिदीए अणुभागे ।

उक्कस्समणुक्कस्सं झीणमझीणं च ठिदियं वा ।।२२।।

अर्थ—मोहनीय कर्म की प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, उत्कृष्टअनुत्कृष्ट प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिककी प्ररूपणा करना चाहिए ।।२२।।

कर प्रणाम जिन देव को सविनय बारम्बार ।

बंध और संक्रम कहूं, चूर्णि-सूत्र-अनुसार ।।

अब ग्रन्थकार क्रम-प्राप्त चौथे बन्धक अर्थाधिकार को कहते हैं—

5. कदि पयडीयो बंधदि ड्ढिदि-अणुभागे जहण्णमुक्कस्सं ।

संकामेइ कदिं वा गुणहीणं वा गुणविसिद्धं ।।२३।।

अर्थ—कितनी प्रकृतियों को बाँधता है, कितनी स्थिति और

अनुभाग को बाँधता है, तथा कितने जघन्य और उत्कृष्ट परिमाणयुक्त प्रदेशों को बाँधता है ? कितनी प्रकृतियोंका संक्रमण करता है, कितनी स्थिति और अनुभाग का संक्रमण करता है, तथा कितने गुण-हीन या गुण-विशिष्ट जघन्य-उत्कृष्ट प्रदेशों का संक्रमण करता है ? 123 ।

अब ग्रन्थकार के द्वारा पाँचवीं मूलगाथा से सूचित संक्रमण-नामक पाँचवें अर्थाधिकार का अवतार करते हुए यतिवृषभाचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

संकम-उवक्कमविही पंचविहो चउव्विहो य णिक्खेवो ।  
 णयविहि पयदं पयदे च णिग्गमो होइ अट्ठविहो । 124 ॥  
 एक्केक्काए संकमो दुविहो संकमविही य पयडीए ।  
 संकमपडिग्गहविही पडिग्गहो उत्तम-जहण्णो । 125 ॥  
 पयडि-पयडिट्ठाणेसु संकमो असंकमो तहा दुविहो ।  
 दुविहो पडिग्गहविही दुविहो अपडिग्गहविही य । 126 ॥

अर्थ—संक्रम की उपक्रम विधि पाँच प्रकार की है, निक्षेप चार प्रकार का है, नयविधि भी प्रकृत में विवक्षित है और प्रकृत में निर्गम भी आठ प्रकार का है । प्रकृतिसंक्रम दो प्रकार का है—एक-एक प्रकृति में संक्रम अर्थात् एकैकप्रकृतिसंक्रम और प्रकृति में संक्रमविधि अर्थात् प्रकृतिस्थानसंक्रम । संक्रम में प्रतिग्रहविधि होती है और वह

उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट और जघन्य होती है 124-25 ।

प्रकृति में संक्रम और प्रकृति स्थान में संक्रम, इसप्रकार संक्रम के दो भेद हैं । इसीप्रकार से असंक्रम भी दो प्रकार का होता है—प्रकृति-असंक्रम और प्रकृतिस्थानअसंक्रम । प्रतिग्रहविधि दो प्रकार की होती है—प्रकृति-प्रतिग्रह और प्रकृतिस्थान प्रतिग्रह । इसीप्रकार अप्रतिग्रहविधि भी दो प्रकार की होती है—प्रकृति-अप्रतिग्रह और प्रकृतिस्थान-अप्रतिग्रह । इसप्रकार निर्गम के आठ भेद होते हैं 126 ।

अट्ठावीस चउवीस सत्तरस सोलसेव पण्णरसा ।

एदे खलु मोत्तूणं सेसाणं संकमो द होइ । 127 ॥

अर्थ—अट्ठाईस, चौबीस, सत्तरह, सोलह और पन्द्रह प्रकृति स्थान नियम से संक्रम के अयोग्य हैं, अतएव इन पाँचों असंक्रम-स्थानों को छोड़कर शेष तेईस स्थानों का संक्रम होता है 127 ।

सोलगसग बारसट्ठग वीसं वीसं तिगादिगधिगा य ।

एदे खलु मोत्तूणं सेसाणि पडिग्गहा होंति । 128 ॥

अर्थ—सोलह, बारह, आठ, बीस और तीन को आदि लेकर एक-एक अधिक बीस अर्थात् तेईस, चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस और अट्ठाईस प्रकृतिक स्थान प्रतिग्रह के अयोग्य हैं, अतएव इन दशों अप्रतिग्रहस्थानों को छोड़कर शेष अट्ठारह प्रतिग्रह-स्थान होते हैं 128 ।

छवीस सत्तवीसा य संकमो णियम चदुसु द्वाणेषु ।  
वावीस पण्णरसगे एक्कारस ऊणवीसाए । 29 ॥  
सत्तारसेगवीसासु संकमो णियम पंचवीसाए ।  
णियमा चदुसु गदीसु य णियमा दिट्ठीगए तिविहे । 30 ॥  
अर्थ—बाईस, पन्द्रह, ग्यारह और उन्नीस—प्रकृतिक चार प्रतिग्रहस्थानों में ही छवीस और सत्ताईस—प्रकृतिक स्थानों का नियम से संक्रम होता है 29 ।  
सत्तरह और इक्कीस—प्रकृतिक दो प्रतिग्रहस्थानों में पच्चीस—प्रकृतिक स्थान का नियम से संक्रमण होता है । यह पच्चीस—प्रकृतिक संकमस्थान नियम से चारों ही गतियों में होता है । तथा दृष्टिगत अर्थात् 'दृष्टि' यह पद जिनके अन्त में हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टी, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि, इन तीनों ही गुणस्थानों में वह पच्चीस प्रकृतिक संक्रमस्थान नियम से पाया जाता है 30 ।  
वावीस पण्णरसगे सत्तग एक्कारसूणवीसाए ।  
तेवीस संकमो पुण पंचसु पंचिंदिएसु हवे । 31 ॥  
अर्थ—तेईस—प्रकृतिक स्थान का संक्रम बाईस, पन्द्रह, सत्तरह, ग्यारह और उन्नीस प्रकृतिक इन पाँच प्रतिग्रहस्थानों में होता है । यह पंचेन्द्रियों में ही होता है 31 ।

चोदसग दसग सत्तग अट्टारसगे च णियम वावीसा ।  
णियमा मणुसगईए विरदे मिस्से अविरदे य । 32 ॥  
तेरसय णवय सत्तय सत्तारस पणय एक्कवीसाए ।  
एगाधिगाए वीसाए संकमो छप्पि सम्मत्ते । 33 ॥  
अर्थ—बाईस—तेईस स्थान का संक्रम नियम से चौदह, दश, सात और अट्टारह प्रकृति चार प्रतिग्रहस्थानों में होता है । यह बाईस—प्रकृतिक संक्रमस्थान नियम से मनुष्यगति में ही होता है । तथा वह संयत, संयतासंयत और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में होता है 32 ।  
इक्कीस—प्रकृतिक स्थान का संक्रम तेरह, नौ, सात, पाँच, सत्तरह और इक्कीस प्रकृतिक छह प्रतिग्रहस्थानों में होता है । ये छहों ही प्रतिग्रहस्थान सम्यक्त्व से युक्त गुणस्थानों में होते हैं 33 ।  
एत्तो अवसेसा संजम्हि उवसामगे च खवगे च ।  
वीसा य संकम दुगे छक्के पणगे च बोद्धव्वा । 34 ॥  
अर्थ—इन ऊपर कहे गये स्थानों से अवशिष्ट रहे हुए संक्रम और प्रतिग्रह स्थान उपशमक और क्षपक संयत के ही होते हैं । बीस—प्रकृतिक स्थान का संक्रम छह और पाँच—प्रकृतिक दो प्रतिग्रहस्थानों में जानना चाहिए 34 ।  
पंचसु च ऊणवीसा अट्टारस चदुसु होंति बोद्धव्वा ।  
चोदस छसु पयडीसु य तेरसयं छक्कं—पणगम्हि । 35 ॥

पंच चउक्के बारस एक्कारस पचगे तिग चउक्के ।

दसगं चउक्कं-पणगे णवगं च तिगम्मि बोद्धव्वा ।36 ॥

अर्थ—उत्तीस-प्रकृतिक स्थान का संक्रम पाँच-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थान में होता है । अट्ठारह-प्रकृतिक स्थान का संक्रम चार-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थान में होता है । चौदह प्रकृतिक स्थान का संक्रम छह-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थान में होता है । तेरह-प्रकृतिक स्थान का संक्रम छह और पाँच-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थानों में जानना चाहिए ।35 ।

बारह-प्रकृतिक स्थान का संक्रम पाँच और चार-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थानों में होता है । ग्यारह-प्रकृतिक स्थान का संक्रम पाँच, चार और तीन-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थानों में होता है । दश-प्रकृतिक स्थान का संक्रम पाँच और चार-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थानों में होता है । नौ-प्रकृतिक स्थान का संक्रम तीन-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थान में जानना चाहिए ।36 ।

अट्ठ दुग तिग चदुक्के सत्त चउक्के तिगे च बोद्धव्वा ।

छक्कं दुगम्मि णियमा पंच तिगे एक्कग दुगे वा ।37 ॥

अर्थ—आठ-प्रकृतिक स्थान का संक्रम दो, तीन और चार-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थानों में होता है । सात-प्रकृतिक स्थान का संक्रम चार और तीन-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थानों में जानना चाहिए । छह-प्रकृतिक स्थान का संक्रम नियम से दो प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थान में

होता है । पाँच-प्रकृतिक स्थान का संक्रम तीन, दो और एक-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थान में होता है ।37 ।

चत्तारि तिग चदुक्के तिण्णि तिगे एक्कगे च बोद्धव्वा ।

दो दुसु एगाए वा एगा एगाए बोद्धव्वा ।38 ॥

अर्थ—चार-प्रकृतिक स्थान का संक्रम तीन और चार-प्रकृतिक दो प्रतिग्रहस्थानों में होता है । तीन-प्रकृतिक स्थान का संक्रम तीन और एक-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थान में जानना चाहिए । दो-प्रकृतिक स्थान का संक्रम दो और एक-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थान में होता है । एक-प्रकृतिक स्थान का संक्रम एक-प्रकृतिक प्रतिग्रहस्थान में जानना चाहिए ।38 ।

इसप्रकार मोहकर्म के संक्रमस्थानों के प्रतिग्रहस्थान बतलाकर अब श्रीगुणधराचार्य उनके अनुमार्गण के उपायभूत अर्थ पद को कहते हैं—

अणुपुव्वमणुपुव्वं झीणमझीणं च दंसणे मोहे ।

उवसामगे च खवगे च संकमे मग्गणोवाया ।39 ॥

अर्थ—प्रकृतिस्थानसंक्रम में आनुपूर्वी-संक्रम, अनानुपूर्वी-संक्रम, दर्शनमोह के क्षय निमित्तक-संक्रम, दर्शनमोह के अक्षय-निमित्तक-संक्रम, चारित्रमोह के उपशामनानिमित्तक-संक्रम और चारित्रमोहनीय के क्षपणा- निमित्तक संक्रम ये छह संक्रमस्थानों के अनुमार्गण के उपाय जानना चाहिए ।39 ।



इसप्रकार उक्त गाथा से संक्रमस्थानों के अनुमार्गण के उपायभूत अर्थपद का ओघ की अपेक्षा निरूपण करके अब गाथा-सूत्रकार संक्रमस्थान, प्रतिग्रहस्थान और तदुभयस्थानों का आदेश की अपेक्षा प्ररूपण करने के लिए प्रश्नात्मक दो गाथा-सूत्र कहते हैं—

एकेकमिहं य द्वाणे पडिग्गहे संकमे तदुभए च ।

भविया वाऽभविया वा जीवा वा केसु ठाणेसु । 40 ॥

कदि कमिहं होति ठाणा पंचविहे भावविधिविसेसमिहं ।

संकमपडिग्गहो वा समाणणा वाऽध केवचिरं । 41 ॥

अर्थ—एक-एक प्रतिग्रहस्थान, संक्रमस्थान और तदुभयस्थान में गति आदि चौदह मार्गणास्थान-विशिष्ट जीवों की मार्गणा करने पर भव्य और अभव्य जीव किस-किस स्थान पर होते हैं, तथा गति आदि शेष मार्गणास्थान-विशिष्ट जीव किन-किन स्थानों पर होते हैं, औदयिक आदि पाँच प्रकार के भावों से विशिष्ट गुणस्थानों में से किस गुणस्थान में कितने संक्रमस्थान होते हैं और कितने प्रतिग्रहस्थान होते हैं, तथा किस संक्रमस्थान या प्रतिग्रहस्थान की समाप्ति कितने काल से होती है ? 40-41 ॥

अब ग्रन्थकार उक्त दो गाथाओं के द्वारा उठाये गये प्रश्नों का समाधान करते हुए सबसे पहले गतिमार्गणा में संक्रमस्थानों का निरूपण करते हैं—

णिरयगइ-अमर-पंचिंदिएसु पंचेव संकमद्वाणा ।

सव्वे मणुसगईए सेसेसु तिगं असण्णीसु । 42 ॥

अब ग्रन्थकार सम्यक्त्वमार्गणा और संयममार्गणा में संक्रमस्थानों का निरूपण करते हैं—

चदुर दुगं तेवीसा मिच्छत्त मिस्सगे य सम्मत्ते ।

बावीस पणय छक्कं विरदे मिस्से अविरदे य । 43 ॥

अर्थ—नरकगति, देवगति और संज्ञिपंचेन्द्रियतिर्यचों में सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस और इक्कीस-प्रकृतिक पाँच ही संक्रमस्थान होते हैं । मनुष्यगति में सर्व ही संक्रमस्थान होते हैं । शेष एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रियों में सत्ताईस, छब्बीस और पच्चीस-प्रकृतिक तीन ही संक्रमस्थान होते हैं । 42 ।

मिथ्यात्व गुणस्थान में सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस और तेईस-प्रकृतिक चार संक्रमस्थान होते हैं । मिश्रगुणस्थान में पच्चीस और इक्कीस-प्रकृतिक दो संक्रमस्थान होते हैं । सम्यक्त्व-युक्त गुणस्थानों में तेईस संक्रमस्थान होते हैं । संयम-युक्त प्रमत्तसंयतादिगुणस्थानों में बाईस संक्रमस्थान होते हैं । मिश्र अर्थात् संयतासंयतगुणस्थान में सत्ताईस, छब्बीस, तेईस, बाईस और इक्कीस-प्रकृतिक पाँच संक्रमस्थान होते हैं । अविरतगुणस्थान में सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस, बाईस और इक्कीस-प्रकृतिक छह संक्रमस्थान होते हैं । 43 ॥

अब लेश्यामार्गणा की अपेक्षा संक्रमस्थानों का निरूपण करते हैं—

तेवीस सुक्कलेस्से छक्कं पुण तेउ-पम्मलेस्सासु।

पणयं पुण काऊए णीलाए किण्हलेस्साए।४४॥

अर्थ—शुक्ललेश्या में तेईस संक्रमस्थान होते हैं। तेजोलेश्या और पद्मलेश्या में सत्ताईस से लेकर इक्कीस तक के छह संक्रमस्थान होते हैं। कापोतलेश्या में सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस और इक्कीस-प्रकृतिक पाँच संक्रमस्थान होते हैं। ये ही पाँच संक्रमस्थान नील और कुष्णलेश्या में भी जानना चाहिए।४४।

अब वेदमार्गणा की अपेक्षा संक्रमस्थानों का निरूपण करते हैं—

अवगयवेद-णवुंसय-इत्थी-पुरिसेसु चाणुपुव्वीए।

अट्टारसयं णवयं एक्कारसयं च तेरसया।४५॥

अर्थ—अपगतवेदी, नपुंसकवेदी, स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीवों में आनुपूर्वी से अर्थात् यथाक्रम से अट्टारह, नौ, ग्यारह और तेरह संक्रमस्थान होते हैं।४५।

अब कषायमार्गणा की अपेक्षा संक्रमस्थानों का निरूपण करते हैं—

कोहादि उवजोगे चदुसु कसाएसु चाणुपुव्वीए।

सोलस य ऊणवीसा तेवीसा चेव तेवीसा।४६॥

अर्थ—क्रोधाधि चारों कषायों से उपयुक्त जीवों में आनुपूर्वी एस सोलह, उन्नीस, तेईस और तेईस संक्रमस्थान होते हैं।४६।

अब ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा संक्रमस्थानों का निरूपण करते हैं—

णाणाम्हि य तेवीसा तिविहे एकम्हि एकवीसा य।

अमणाणम्हि य तिविहे पंचेव य संकमट्ठाणा।४७॥

अर्थ—मति, श्रुत और अवधि इन तीनों ज्ञानों में तेईस संक्रमस्थान होते हैं। एक में अर्थात् मनःपर्ययज्ञान में पच्चीस और छब्बीस-प्रकृतिक गो स्थान छोड़कर शेष इक्कीस संक्रमस्थान होते हैं। कुमति, कुश्रुत और विभंग, इन तीनों ही अज्ञानों में सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस और इक्कीस-प्रकृतिक पाँच संक्रमस्थान होते हैं।४७।

अब भव्यमार्गणा और आहारमार्गणा में संक्रमस्थानों का निरूपण करते हैं—

आहारय- भविएसु य तेवीसं होंति संकमट्ठाणा।

अणाहारएसु पंच य एकं ट्ठाणं अभविएसु।४८॥

अर्थ—आहारक और भव्य जीवों में तेईस ही संक्रमस्थान होते हैं। अनाहारकों में सत्ताईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस और इक्कीस-प्रकृतिक पाँच संक्रमस्थान होते हैं। अभव्यों में पच्चीस-प्रकृतिक एक ही संक्रमस्थान होता है।४८।

अब अपगतवेदी जीवों में नहीं पाये जानेवाले संक्रमस्थानों का निरूपण करते हैं—

छब्बीस सत्तावीसा तेवीसा पंचवीस वावीसा।

एदे सुण्णट्ठाणा अवगदवेदस्स जीवस्स।५१॥

अर्थ—अपगतवेदी जीव के छब्बीस, सत्ताईस, तेईस, पच्चीस और बाईस-प्रकृतिक पंच शून्यस्थान होते हैं, अर्थात् ये पाँच संक्रमस्थान नहीं पाये जाते हैं ५१।

अब नपुंसकवेदी जीवों में नहीं पाये जानेवाले संक्रमस्थानों प्रतिपादन करते हैं—

जुगवीससट्ठारसयं चोदस एक्कारसादिया सेसा।

एदे सुण्णट्ठाणा णवुंसए चोदसा होंति।५०॥

अर्थ—नपुंसकवेदी जीवों में उन्नीस, अट्ठारह, चौदह और ग्यारह की आदि लेकर शेष स्थान, अर्थात् ग्यारह, दश, नौ, आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक चौदह स्थान शून्य हैं ५०।

अब स्त्रीवेदी जीवों में नहीं पाये जानेवाले संक्रमस्थानों का प्ररूपण करते हैं—

अट्ठारस चोदसयं ट्ठाणा सेसा य दसगमादीया।

एदे सुण्णट्ठाणा बारस इत्थीसु बोद्धव्वा।५१॥

अर्थ—स्त्रीवेदी जीवों में अट्ठारह और चौदह-प्रकृतिक ये दो स्थान, तथा दश को आदि लेकर एक तक के दश स्थान, इसप्रकार ये बारह स्थान शून्य जानना चाहिए ५१।

अब पुरुषवेदी जीवों में नहीं पाये जानेवाले संक्रमस्थानों को बतलाते हैं—

चोदसग णवगमादी हवंति उवसामगे च खवगे च।

एदे सुण्णट्ठाणा दस वि य पुरिसेसु बोद्धव्वा।५२॥

अर्थ—पुरुषवेदी जीवों में, उपशामक में और क्षपक में चौदह-प्रकृतिक संक्रमस्थान तथा नौको आदि लेकर एक तक के नौ स्थान इसप्रकार दश स्थान शून्य हैं ५२।

अब क्रोधकषायी जीवों में नहीं पाये जानेवाले संक्रमस्थानों को कहते हैं—

णव अट्ठ सत्त छक्कं पणग दुगं एकयं च बोद्धव्वा।

एदे सुण्णट्ठाणा पढमकसायोवजुत्तेसु।५३॥

अर्थ—प्रथम-क्रोधकषाय से उपयुक्त जीवों में नौ, आठ, सात, छह, पाँच, दो और एक-प्रकृतिक सात स्थान शून्य हैं ५३।

अब मानकषायी जीवों में नहीं पाये जानेवाले संक्रमस्थानों को कहते हैं—

सत्त य छक्कं पणगं च एकयं चेव आणुपुव्वीए।

एदे सुण्णट्ठाणा विदियकसाओवजुत्तेसु।५४॥

अर्थ—द्वितीय मानकषाय से उपयुक्त जीवों में सात, छह, पाँच और एक-प्रकृतिक चार स्थान शून्य हैं। इसप्रकार आनुपूर्वी से शून्यस्थानों का कथन किया ५४।

अब ग्रन्थकार इसी उपर्युक्त दिशा से शेष मार्गणास्थानों में सम्भव और असम्भव संक्रमस्थानों के भी जान लेने की सूचना करते हैं—

**दिद्वे सुण्णासुण्णे वेद-कसाएसु चेव द्वाणेषु ।**

**मग्गणगवेसणाए दु संकमो आणुपुव्वीए । 55 ॥**

**अर्थ**—इसप्रकार वेदमार्गणा में और कषायमार्गणा में संक्रमस्थानों के शून्य और अशून्य स्थानों के दृष्टिगोचर हो जाने पर, अर्थात् जान लेने पर शेष मार्गणाओं में भी आनुपूर्वी से संक्रमस्थानों की गवेषणा करना चाहिए 55 ।

अब ग्रन्थकार मोहनीयकर्म के बन्धस्थान और सत्त्वस्थान के साथ संक्रमस्थानों के एक-संयोगी, द्वि-संयोगी भंगों को निकालने के लिए सन्निकर्ष की सूचना करते हैं—

**कम्मंसियद्वाणेषु य बंधद्वाणेषु संकमद्वाणे ।**

**एक्केक्केण समाणय बंधेण य संकमद्वाणे । 56 ॥**

**अर्थ**—कर्मांशिक स्थान में अर्थात् मोहनीय के सत्त्वस्थानों में और बन्धस्थानों में संक्रमस्थानों की गवेषणा करना चाहिए । तथा एक-एक बन्धस्थान और सत्त्वस्थान के साथ संयुक्त संक्रमस्थानों के एक-संयोगी, द्वि-संयोगी भंगों को निकालना चाहिए 56 ।

**सादि य जहण्णसंकम कदिखुत्तो होइ ताव एक्केक्के ।**

**अविरहिद सांतरं केवचिरं कदिभाग परिमाणं । 57 ॥**

**एवं दव्वे खेत्ते काले भावे य सण्णिवादे य ।**

**संकमणयं णयविदू णेया सुददेसिदमुदारं । 58 ॥**

**अर्थ**—प्रकृतिस्थानसंक्रम अधिकार में सादिसंक्रम जघन्यसंक्रम, अल्पबहुत्व, काल, अन्तर, भागाभाग और परिमाण अनुयोगद्वारा होते हैं । इसप्रकार नय-विज्ञ जनों को श्रुतोपदिष्ट, उदार अर्थात् विशाल और गम्भीर संक्रमण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और सन्निपात अर्थात् सन्निकर्षकी अपेक्षा जानना चाहिए 57-58 ।

**कर्मनिके वेदन-रहित सिद्धनिका जयकार ।**

**करिके भाषुं अति गहन यह वेदक अधिकार ॥**

अब कषायप्राभृत के पन्द्रह अधिकारों में से छठे वेदक नाम के अनुयोग द्वार को कहने के लिए यतिवृषभाचार्य चूर्णिसूत्र कहते हैं—

**कदि आवलियं पवेसेह कदि च पविस्संति कस्स आवलियं ।**

**खेत्त - भव - काल - पोग्गल - द्विदिविवागोदयखयो दु । 59 ॥**

**अर्थ**—प्रयोग-विशेष के द्वारा कितनी कर्म-प्रकृतियों को उदयावली के भीतर प्रवेश करता है ? तथा किस जीव के कितनी कर्म-प्रकृतियों को उदीरणा के बिना ही स्थितिक्षय से उदयावली के भीतर प्रवेश करता है ? क्षेत्र, भव, काल और पुद्गलद्रव्य का

आश्रय लेकर जो स्थिति-विपाक होता है, उसे उदीरणा कहते हैं और उदय-क्षय को उदय कहते हैं ६९।

को कदमाए ढिदीए पवेसगो को व के य अणुभागे।  
सांतर णिरंतरं वा कदि वा समया दु बोद्धव्वा।६०॥  
बहुगदरं बहुगदरं से काले को णु थोवदरगं वा।  
अणुसमयमुदीरें तो कदि वा समयं (ये) उदीरेदि।६१॥  
जो जं संकामेदि य जं बंधदि जं च जो उदीरेदि।  
तं केण होइ अहियं ढिदि-अणुभागे पदेसगगे।६२॥

अर्थ—कौन जीव किस स्थिति में प्रवेश करानेवाला है और कौन जीव किस अनुभाग में प्रवेश कराता है। तथा इनका सान्तर और निरन्तर काल कितने समयप्रमाण जानना चाहिए ६०।

विवक्षित समय से तदनन्तरवर्ती समय में कौन जीव बहुत की अर्थात् अधिक से अधिकतर कर्मों की उदीरणा करता है और कौन जीव स्तोक से स्तोकतर अर्थात् अल्प कर्मों की उदीरणा करता है ? तथा प्रतिसमय उदीरणा करता हुआ यह जीव कितने समय तक निरन्तर उदीरणा करता रहता है ६१।

जो जीव स्थिति, अनुभाग और प्रदेशाग्र में जिसे संक्रमण करता है, जिसे बाँधता है और जिसकी उदीरणा करता है, वह द्रव्य किससे अधिक होता है (और किससे कम होता है) ? ६२।

युगपद् उपयोगद्वयी जिनवर के नमि पाय।

इस उपयोग-द्वार को भाषूं अति उमगाय॥

10. केवचिरं उवजोगो कम्मि कसायम्मि को व केणहियो।  
को वा कम्मि कसाए अभिक्खमुवजोगमुवजुत्तो।६३॥  
अर्थ—किस कषाय में एक जीव का उपयोग कितने काल तक होता है ? कौन उपयोगकाल किससे अधिक है और कौन जीव किस कषाय में निरन्तर एक सदृश उपयोग से उपयुक्त रहता है ? ६३।

11. एक्कम्हि भवग्गहणे एक्ककसायम्हि कदि च उवजोगा।  
एक्कम्हि या उवजोगे एक्ककसाए कदि भवा च।६४॥  
12. उवजोगवग्गणाओ कम्मि कसायम्मि केत्तिया होंति ?  
कदरिस्से च गदीए केवडिया वग्गणा होंति।६५॥  
अर्थ—एक भव के ग्रहण-काल में और एक कषाय में कितने उपयोग होते हैं, तथा एक उपयोग में और एक कषाय में कितने भव होते हैं ? ६४।

किस कषाय में उपयोग-सम्बन्धी वर्गणाएं कितनी होती हैं ? तथा किस गति में कितनी वर्गणाएं होती हैं ? ६५।

13. एक्कम्हि य अणुभागे एक्ककसायम्मि एक्ककालेण।  
उवजुत्ता का च गदी विसरिसमुवजुज्जदे का च।६६॥

14. केवडिया उवजुत्ता सरिसीसु च वगगणा-कसाएसु।

केवडिया च कसाए के के च विसिस्सदे केण।67॥

अर्थ—एक अनुभाग में और एक कषाय में एक काल की अपेक्षा कौन सी गति सदृशरूप से उपयुक्त होती है और कौन-सी गति विसदृशरूप से उपयुक्त होती है ? 66।

सदृश कषाय-उपयोगवर्गणाओं में कितने जीव उपयुक्त हैं, तथा चारों कषायों से उपर्युक्त सर्व जीवों का कौन-सा भाग एक-एक कषाय में उपयुक्त है और किस-किस कषाय से उपयुक्त जीव कौन-कौन सी कषायों से उपयुक्त जीवराशि के साथ गुणकार और भागहार की अपेक्षा हीन अथवा अधिक होते हैं ? 67।

15. जे जे जम्हि कसाए उवजुत्ता किण्णु भूदपुव्वा ते।

होहिंति च उवजुत्ता एवं सव्वत्थ बोद्धव्वा।68॥

16. उवजोगवगगणाहि च अविरहिदं काहि विरहिदं चावि।

पढमसमयोवजुत्तेहिं चरिमसमए च बोद्धव्वा (7)।69॥

अर्थ—जो-जो जीव वर्तमान समय में जिस क्रोधादि किसी एक कषाय में उपयुक्त दिखलाई देते हैं, वे सबके सब क्या अतीत काल में उसी ही कषाय के उपयोग से उपयुक्त थे, अथवा वे सबके सब आगामी काल में उसी ही कषायरूप उपयोग से उपयुक्त होंगे ? इसीप्रकार सर्वत्र सर्व मार्गणाओं में जानना चाहिए 68।

कितनी उपयोग-वर्गणाओं के द्वारा कौन स्थान अविरहित पाया जाता है और कौन स्थान विरहित ? तथा प्रथम समय में उपयुक्त जीवों के द्वारा और इसीप्रकार अन्तिम समय में उपयुक्त जीवों के द्वारा स्थानों को जानना चाहिये (7) 69।

17. कोहो चउव्विहो वुत्तो माणो वि चउव्विहो भवे।

माया चउव्विहा वुत्ता लोहो वि य चउव्विहो।70॥

अर्थ—क्रोध चार प्रकार का कहा गया है। मान भी चार प्रकार का होता है। माया भी चार प्रकार की कही गई है और लोभ भी चार प्रकार का है।70॥

अब क्रोधादिकषायों के उक्त चार-चार भेदों का गुणधराचार्य स्वयं गाथासूत्रों के द्वारा निरूपण कहते हैं—

18. णग-पुढवि-वालुगोदयराईसरिसो चउव्विहो कोहो।

सेलघण-अट्ठि-दारुअ लदासमाणो हवदि माणो।71॥

अर्थ—क्रोध चार प्रकार का है— नगराजिसदृश, पृथिवीराजि सदृश, वालुकाराजिसदृश और उदकराजिसदृश। इसीप्रकार मान के भी चार भेद हैं—शैलघनसमान, अस्थिसमान, दारुसमान और लतासमान।71।

19. वंसीजण्हुगसरिसी मेंढविसाणसरिसी य गोमुत्ती।

अवलेहणीसमाणा माया वि चउव्विहा भणिदा।72॥

20. किमिरागस्तसमगो अक्खमलसमा य पंसुलेवसमो ।

हालिद्ववत्थसमगो लोभी वि चउव्विहो भणिदो ।।73 ।।

अर्थ—माया भी चार प्रकार की कही गई है—वाँस की जड़ के सदृश, भेंढेके सींग के सदृश, गोमूत्र के सदृश और अवलेखनी के समान ।72 ।

लोभ भी चार प्रकार का कहा गया है—कृमिराग के समान, अक्षमल के समान, पांशुलेप के समान और हारिद्रवस्त्र के समान ।73 ।

अब इन ऊपर कहे गये सोलह भेदरूप स्थानों का अल्पबहुत्व निर्णय करने के लिये गुणधराचार्य गाथासूत्र कहते हैं—

21. एदेसिं द्वाणाणं चदुसु कसाएसु सोलसण्हं पि ।

कं केण होइ अहियं द्विदि-अणुभागे पदेसग्गे ।।74 ।।

अर्थ—इन अनन्तर-निर्दिष्ट चारों कषायों सम्बन्धी सोलहों स्थानों में स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा कौन स्थान किस स्थान से अधिक होता है, (और कौन किससे कम होता है ) ? ।74 ।

22. माणे लदासमाणे उक्कस्सा वग्गणा जहण्णादो ।

हीणा च पदेसग्गे गुणेण गियमा अणंतेण ।।75 ।।

अर्थ—लता-समान मान में उत्कृष्ट वर्गणा अर्थात् अन्तिम स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा, जघन्य वर्गणा से अर्थात् प्रथम स्पर्धक

की पहली वर्गणा से प्रदेशों की अपेक्षा नियम से अनन्तगुणी हीन है । (किन्तु अनुभाग की अपेक्षा जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा निश्चय से अनन्तगुणी अधिक जानना चाहिए । ) ।75 ।

अब मानकषाय के चारों स्थानों का परस्थान-सम्बन्धी अल्पबहुत्व कहने के लिए उत्तर गाथासूत्र कहते हैं—

23. गियमा लदासमादो दारुसमाणो अणंतगुणहीणो ।

सेसा कमेण हीणा गुणेण गियमा अणंतेण ।।76 ।।

अर्थ—लतासमान मान से दारुसमान मान प्रदेशों की अपेक्षा नियम से अनन्त गुणित हीन है । इसी क्रम से शेष अर्थात् दारुसमान मान से अस्थिसमान मान और अस्थिसमान मान से शैलसमान मान नियम से अनन्तगुणित हीन है ।76 ।

उक्त प्रकार से प्रदेशों की अपेक्षा अल्पबहुत्व बता करके अब अनुभाग की अपेक्षा अल्पबहुत्व कहने के लिए आचार्य उत्तर गाथा-सूत्र कहते हैं—

24. गियमा लदासमादो अणुभागग्गेण वग्गणग्गेण ।

सेसा कमेण अहिया गुणेण गियमा अणंतेण ।।77 ।।

अर्थ—लतासमान मान से शेष स्थानीय मान अनुभागाग्र की अपेक्षा और वर्गणाग्रकी अपेक्षा क्रमशः नियमसे अनन्तगुणित अधिक होते हैं ।77 ।

अब लतासमान चरम सन्धि से दारुसमान प्रथम सन्धि अनुभाग या प्रदेशों की अपेक्षा हीन या अधिक किसप्रकार की होती है, इस शंका के निवारण करने के लिए आचार्य उत्तर गाथा-सूत्र कहते हैं—

**25. संधीदा संधी पुण अहिया णियमा च होइ अणुभागे ।**

**हीणा च पदेसग्गे दो वि य णियमा विसेसेण । 78 ॥**

अर्थ—विवक्षित सन्धि से अग्रिम सन्धि अनुभाग की अपेक्षा नियम से अनन्त भाग रूप विशेष से अधिक होती है और प्रदेशों की अपेक्षा नियम से अनन्तभाग से हीन होती है । 78 ।

अब लता आदि चारों स्थानों में देशघाती और सर्वघाती का विभाग बतलाने के लिए उत्तर गाथासूत्र कहते हैं—

**26. सव्वावरणीयं पुण उक्कस्सं होइ दारुअसमाणे ।**

**हेट्ठा देसावरणं सव्वावरणं च उवरिल्लं । 79 ॥**

अर्थ—दारु समान स्थान में जो उत्कृष्ट अनुभाग अंश है, वह सर्वावरणीय अर्थात् सर्वघाती है । उससे अधस्तन भाग देशघाती है और उपरितन भाग सर्वघाती है । 79 ॥

अब यह उपर्युक्त क्रम क्रोधादि चारों कषायों के चारों स्थानों में समान है, यह बतलाने के लिए उत्तर गाथासूत्र कहते हैं—

**27. एसो कम्मो च माणे मायाए णियमसा दु लोभे वि ।**

**सव्वं च काहकम्मं चदुसु द्वाणेषु बोद्धव्वं । 80 ॥**

अर्थ—यही क्रम नियम से मान, माया, लोभ और क्रोधकषाय सम्बन्धी चारों स्थानों में निरवशेष रूप से जानना चाहिए । 80 ।

गति आदि मार्गणाओं में इन उपर्युक्त स्थानों में बन्ध, सत्त्व आदि की अपेक्षा विशेष निर्णय के लिए आचार्य आगे के गाथा-सूत्रों को कहते हैं—

**28. एदेसिं द्वाणाणं कदम ठाणं गदीए कदमिस्से ।**

**बद्धं च बज्झमाणं उवसंतं वा उदिण्णं वा । 81 ॥**

अर्थ—इन उपर्युक्त स्थानों में से कौन स्थान किस गति में बद्ध, बध्यमान, उपशान्त या उदीर्ण रूप से पाया जाता है ? । 81 ।

**29. सण्णीसु असण्णीसु य पज्जत्ते वा तहा अपज्जत्ते ।**

**सम्मत्ते मिच्छत्ते य मिस्सगे चेय बोद्धव्वा । 82 ॥**

**30. विरदीय अविरदीए विरदाविरदे तहा अणागारे ।**

**सागारे जोगाम्हि य लेस्साए चेव बोद्धव्वा । 83 ॥**

अर्थ—उपर्युक्त सोलह स्थान यथासंभव संज्ञियों में, असंज्ञियों में, पर्याप्त में, अपर्याप्त में सम्यक्त्व में मिथ्यात्व में और सम्यग्मिथ्यात्व में जानना चाहिए । 82 ।

वे ही सोलह स्थान अविरति में, विरति में, विरताविरत में, अनाकार उपयोग में, साकार उपयोग में, योग में, और लेश्या में भी जानना चाहिए । 83 ।



31. कं ठाणं वेदंतो कस्स व द्वाणस्स बंधगो होइ ।  
कं ठाणमवेदंतो अबंधगा कस्स द्वाणस्स । ४४ ॥
32. असण्णी खलु बंधइ लदासमाणं च दारुयसमगं च ।  
सण्णी चदुसु विभज्जो एवं सव्वत्थ कायव्वं (16) । ४५ ॥
- अर्थ—किस स्थान का वेदन करता हुआ कौन जीव किस स्थान का बंधक होता है और किस स्थान का अवेदन करता हुआ कौन जीव किस स्थान का अबंधक रहता है ? ४४ ।
- असंझी जीव नियम से लता समान और दारु समान अनुभागस्थान को बाँधता है । संझी जीव चारों स्थानों में भजनीय है । इसीप्रकार से सभी मार्गणाओं में बन्ध और अबन्ध का अनुगम करना चाहिए । (16) ४५ ।
33. कोहो य कोव रोसो य अक्खम संजलण कलह वड्ढी य ।  
झंझा दोस विवादो दस कोहेयट्टिया होंति । ४६ ॥
34. माण मद दप्प थंभी उक्कास पगास तध समुक्कस्सो ।  
अत्तुक्करिसो परिभव उस्सिद दसलक्खणो माणो । ४७ ॥
- अर्थ—क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, वृद्धि, झंझा, द्वेष और विवाद ये दश क्रोध के एकार्थक नाम हैं ४६ ।
- मान, मद, दर्प, स्तम्भ, उत्कर्ष, प्रकर्ष, समुत्कर्ष, आत्मोत्कर्ष, परिभव और उत्सिक्त ये दश नाम मान कषाय के हैं ४७ ।

35. माया य सादिजोगी णियदी वि य वंचणा अणुञ्जुगदा ।  
गहणं मणुण्णमग्गण कक्क कुहक गूहणच्छण्णो । ४८ ॥
36. कामो राग णिदाणो छंदो य सुदो य पेज्ज दोसो य ।  
णेहाणुराग आसा इच्छा मुच्छा य गिद्धी य । ४९ ॥
37. सासद पत्थण लालस अविरदि तण्हा य विज्जजिब्बा य ।  
लोभस्स णामधेज्जा वीसं एगट्ठिया भणिदा । ५० ॥
- अर्थ—माया, सातियोग, निकृति, वंचना, अनृजुता, ग्रहण, मनोज्ञमार्गण, कल्क, कुहक, गूहन और छन्न ये ग्यारह नाम मायाकषाय के हैं ४८ ।
- काम, राग, निदान, छन्द, स्वत, प्रेय, दोष, स्नेह, अनुराग, आशा, इच्छा, मूर्च्छा, गृद्धि, साशता या शास्वत, प्रार्थना, लालसा, अविरति तृष्णा, विद्या, और जिह्वा ये बीस लोभ के एकार्थक नाम कहे गये हैं ४९-५० ।
- जिनवर गणधर को प्रणमि, समकितमें मन लाय ।  
इस सम्यक्त्व-द्वारको, भाषूँ अति हर्षाय ॥
38. दंसणमोह-उवसामगस्स परिणामो केरिसो भवे ।  
जागे कसाय उवजोगे लेस्सा वेदो य का भवे । ५१ ॥
39. काणि वा पुव्वबद्धाणि के वा अंसे णिबंधदि ।  
कदि आवलियं पविसंति कदिण्हं वा पवेसगो । ५२ ॥

अर्थ—दर्शनमोह के उपशामक का परिणाम कैसा होता है, किस योग, कषाय और उपयोग में वर्तमान, किस लेश्या से युक्त और कौन से वेदवाला जीव दर्शनमोह का उपशामक होता है ? ७1।

दर्शनमोह के उपशम करनेवाले जीव के पूर्व-बद्ध कर्म कौन-कौन से हैं और अब कौन-कौन से नवीन कर्माशों को बाँधता है। उपशामक के कौन-कौन प्रकृतियाँ उदयावली में प्रवेश करती हैं और यह कौन-कौन प्रकृतियों का प्रवेशक है, अर्थात् उदीरणारूप से उदयावली में प्रवेश कराता है ? ७2।

40. के अंसे झीयदे पुव्वं बंधेण उदएण वा।

अंतरं वा कहिं किच्चा के के उवसामगो कहिं। ७3॥

41. किं द्विदियाणि कम्माणि अणु भागेषु केसु वा।

ओवट्टेदूण सेसाणि कं ठाणं पडिवज्जदि। ७4॥

अर्थ—दर्शनमोह के उपशम काल से पूर्व बन्ध अथवा उदय की अपेक्षा कौन-कौन से कर्माश क्षीण होते हैं ? अन्तर को कहाँ पर करता है और कहाँ पर तथा किन कर्मों का यह उपशामक होता है ? ७3।

दर्शनमोह का उपशम करनेवाला जीव किस-किस स्थिति-अनुभाग-विशिष्ट कौन-कौन से कर्मों का अपवर्तन करके किस स्थान

को प्राप्त करता है और अवशिष्ट कर्म किस स्थिति और अनुभाग को प्राप्त होते हैं ? ७4।

42. दंसणमोहस्सुवसामगो दु चदुसु वि गदीसु बोद्धव्वो।

पंचिदिओ य सण्णी णियमा सो होइ पज्जत्तो। ७5॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करनेवाला जीव चारों ही गतियों में जानना चाहिए। वह जीव नियम से पंचेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्तक होता है ७5।

उक्त गाथा के द्वारा सम्यग्दर्शन एक उत्पन्न करने की योग्यता रूप प्रायोग्यलब्धि का निरूपण किया गया है। ग्रन्थकार उसी का और भी स्पष्टीकरण करने के लिए उत्तर गाथासूत्र कहते हैं—

43. सब्बणिरय-भवणेषु दीव-समुद्दे गह (गुह) जोदिसि-विमाणे।

अभिजोग्ग-अणभिजोग्गे उवसामो होइ बोद्धव्वो। ७6॥

अर्थ—इन्द्रक, श्रेणीबद्ध आदि सर्व नरकों में, सर्व प्रकार के भवनवासी देवों में, सर्व द्वीप समुद्रों में, सर्व गुह्या अर्थात् व्यन्तर देवों में, समस्त ज्योतिष्क देवों में, सौधर्म कल्प से लेकर नव ग्रैवेयक तक के सर्व विमानवासी देवों में, आभियोग्य अर्थात् वाहनादि कुत्सित कर्म में नियुक्त वाहन देवों में, उनसे भिन्न कित्विषिक आदि अनुत्तम, तथा पारिषद आदि उत्तम देवों में दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम होता है ७6।

44. उवसामगो च सव्वो णिव्वाघादो तहा णिरासाणो ।  
 उवसंते भजियव्वो णीरासाणो य खीणम्मि । ७7 ॥  
 अर्थ—दर्शनमोह के उपशामक सर्व जीव निर्व्याघात तथा  
 निरासान होते हैं। दर्शनमोह के उपशान्त होने पर सासादन भाव  
 भजितव्य है। किन्तु क्षीण होने पर निरासान ही रहता है ७7 ।
45. सागारे पड्डवगो णिट्टवगो मज्झिमो य भजियव्वो ।  
 जोगे अण्णदरम्हि य जहण्णगो तेउलेस्साए । ७8 ॥
46. मिच्छत्तवेदणीयं कम्मं उवसामगस्स बोद्धव्वं ।  
 उवसंते आसाणे तेण परं होइ भजियव्वो । ७9 ॥  
 अर्थ—साकारोपयोग में वर्तमान जीव ही दर्शनमोहनीय कर्म  
 के उपशामनका प्रस्थापक होता है। किन्तु निष्ठापक और मध्य  
 अवस्थावर्ती जीव भजितव्य है। तीनों योगों में से किसी एक योग  
 में वर्तमान और तेजोलेश्या के जघन्य अंश को प्राप्त जीव दर्शनमोह  
 का उपशामन करता है ७8 ।  
 उपशामक के मिथ्यात्ववेदनीय कर्म का उदय जानना चाहिए ।  
 किन्तु उपशान्त अवस्था के विनाश होने पर तदनन्तर उसका उदय  
 भजितव्य है ७9 ।
47. सव्वेहिं द्विदिविसेसेहिं उवसंता होंति तिण्णि कम्मंसा ।  
 एक्कम्हि य अणुभागे णियमा सव्वे द्विदिविसेसा । १०० ॥

48. मिच्छत्तपच्चयो खलु बंधो उवसामगस्स बोद्धव्वो ।  
 उवसंते आसाणे तेण परं होइ भजियव्वो । १०१ ॥  
 अर्थ—दर्शनमोह के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-  
 प्रकृति, ये तीनों कर्मांश, दर्शनमोह की उपशान्त अवस्था में  
 सर्वस्थितिविशेषों के साथ उपशान्त रहते हैं, अर्थात् उस समय तीनों  
 प्रकृतियों में से किसी एक की भी किसी स्थिति का उदय नहीं रहता  
 है। तथा एक ही अनुभाग में उन तीनों कर्मांशों के सभी स्थितिविशेष  
 नियम से अवस्थित रहते हैं १०० ।  
 उपशामक के मिथ्यात्वप्रत्ययक अर्थात् मिथ्यात्व के निमित्त से  
 मिथ्यात्व का और ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध जानना चाहिए ।  
 किन्तु दर्शनमोहनीय की उपशान्त अवस्था में मिथ्यात्व-प्रत्ययक  
 बन्ध नहीं होता है। उपशान्त अवस्था के समाप्त होने पर उसके  
 पश्चात् मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध भजनीय है १०१ ।
49. सम्मामिच्छाइट्ठी दंसणमोहस्सऽबंधगो होइ ।  
 वेदयसम्माइट्ठी खीणो वि अवंधगो होइ । १०२ ॥
50. अंतोमुहुत्तमद्धं सव्वोवसमेण होइ उवसंतो ।  
 तत्तो परमुदयो खलु तिण्णेक्कदरस्स कम्मस्स । १०३ ॥  
 अर्थ—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव दर्शनमोह का अबन्धक होता  
 है। इसीप्रकार वेदकसम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, तथा 'अपि' शब्द

से सूचित उपशमसम्यग्दृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीव भी दर्शनमोह का अबन्धक होता है ॥०२॥

उपशमसम्यग्दृष्टि जीव के दर्शनमोहनीयकर्म अन्तर्मुहूर्तकाल तक सर्वोपशम से उपशान्त रहता है। इसके पश्चात् नियम से उसके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन तीन कर्मों में से किसी एक कर्म का उदय हो जाता है ॥०३॥

**51. सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमेण तह वियट्ठेण।**

**भजियव्वो य अभिक्खं सव्वोवसमेण देसेण ॥०४॥**

**52. सम्मत्तपढमलंभस्सऽणंतरं पच्छदो य मिच्छत्तं।**

**लंभस्स अपढमस्स दु भजियव्वो पच्छदो होदि ॥०५॥**

अर्थ—अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यक्त्व का प्रथम बार लाभ सर्वोपशम से होता है। सादि मिथ्यादृष्टियों में जो विप्रकृष्ट जीव है, वह भी सर्वोपशम से ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। किन्तु जो अविप्रकृष्ट सादि मिथ्यादृष्टि है, और जो अभीक्ष्ण अर्थात् बार-बार सम्यक्त्व को ग्रहण करता है, वह सर्वोपशम और देशोपशम से भजनीय है, अर्थात् दोनों प्रकार से प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होता है ॥०४॥

सम्यक्त्व की प्रथम वार प्राप्ति के अनन्तर और पश्चात् मिथ्यात्व का उदय होता है। किन्तु अप्रथम बार सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् वह भजितव्य है ॥०५॥

**53. कम्माणि जस्स तिण्णि दु णियमा सो संकमेण भजियव्वो।**

**एवं जस्स दु कम्मं संकमणे सो ण भजियव्वो ॥०६॥**

अर्थ—जिस जीव के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति, ये तीन कर्म सत्ता में होते हैं; अथवा गाथा-पठित 'तु' शब्द से मिथ्यात्व या सम्यक्त्वप्रकृति के बिना शेष दो कर्म सत्ता में होते हैं, वह नियम से संक्रमण की अपेक्षा भजितव्य है। जिस जीव के एक ही कर्म सत्ता में होता है, वह संक्रमण की अपेक्षा भजितव्य नहीं है ॥०६॥

**54. सम्माइट्ठी सद्वहदि पवयणं णियमसा दु उवइट्ठं।**

**सद्वहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा ॥०७॥**

**55. मिच्छाइट्ठी णियमा उवइट्ठं पवयणं ण सद्वहदि।**

**सद्वहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥०८॥**

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो नियम से श्रद्धान करता ही है, किन्तु कदाचित् अज्ञानवश सद्वहूत अर्थ को स्वयं नहीं जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्वहूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है ॥०७॥

मिथ्यादृष्टि जीव नियम से सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो श्रद्धान नहीं करता है, किन्तु असर्वज्ञ पुरुषों के द्वारा उपदिष्ट या

अनुपदिष्ट असद्भावका, अर्थात् पदार्थ के विपरीत स्वरूप का श्रद्धान करता है ॥१०८॥

### 56. सम्मामिच्छाङ्गी सागारो वा तहा अणागारो ।

अध वंजणोग्गहम्मि दु सागारो होइ बोद्धवो (15) ॥१०९॥

अर्थ—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव साकारोपयोगी भी होता है और अनाकारोपयोगी भी होता है। किन्तु व्यंजनावग्रह में, अर्थात् विचारपूर्वक अर्थ को ग्रहण करने की अवस्था में साकारोपयोगी ही होता है, ऐसा जानना चाहिए ॥१०९॥

### 57. दंसणमोहक्खवणापट्टवगो कम्मभूमिजादो दु ।

णियमा मणुसगदीए णिट्टवगो चावि सव्वत्थ ॥११०॥

अर्थ—नियम एस कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ और मनुष्यगति में वर्तमान जीव ही दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक (प्रारम्भ करनेवाला) होता है। किन्तु उसका निष्ठापक (पूर्ण करनेवाला) चारों गतियों में होता है ॥११०॥

### 58. मिच्छत्तवेदणीए कम्मे ओवट्ठिदम्मि सम्मत्ते ।

खवणाए पट्टवगो जहण्णगो तेउलेस्साए ॥१११॥

### 59. अंतोमुहुत्तमद्धं दंसणमोहस्स णियमसा खवगो ।

खीणे देव-मणुस्से सिया वि णामाउगो बंधो ॥११२॥

अर्थ—मिथ्यात्ववेदनीयकर्म के सम्यक्त्वप्रकृति में अपवर्तित अर्थात् संक्रमित कर देने पर जीव दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक कहलाता है। दर्शनमोह की क्षपणा के प्रस्थापक को जघन्य तेजोलेश्या में वर्तमान होना चाहिए ॥१११॥

अन्तर्मुहूर्तकाल तक दर्शनमोह का नियम से क्षपण करता है। दर्शनमोह के क्षीण हो जाने पर देव और मनुष्यगति-सम्बन्धी नामकर्म की प्रकृतियों का और आयुर्कर्म का स्यात् बन्ध करता है और स्यात् बन्ध नहीं भी करता है ॥११२॥

### 60. खवणाए पट्टवगो जम्हि भवे णियसमा तदो अण्णो ।

णाधिच्छदि तिण्णि भवे दंसणमोहम्मि खीणम्मि ॥११३॥

### 61. संखेज्जा च मणुस्सेसु खीणमोहा सहस्ससो णियमा ।

सेसासु खीणमोहा गदीसु णियमा असंखेज्जा (5) ॥११४॥

अर्थ—दर्शनमोह का क्षपण प्रारम्भ करनेवाला जीव जिस भव में क्षपण का प्रस्थापक होता है, उससे अन्य तीन भवों को नियम से उल्लंघन नहीं करता है। दर्शनमोह के क्षीण हो जाने पर तीन भव में नियम से मुक्त हो जाता है ॥११३॥

मनुष्यो में क्षीणमोही अर्थात् क्षायिकसम्यग्दृष्टि नियम से संख्यात सहस्र होते हैं। शेष गतियों में क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव नियम से असंख्यात होते हैं ॥११४॥

62. लद्धी य संजमासंजमस्स लद्धी तहा चरित्तस्स ।  
 वड्ढावड्ढी उवसामणा य तह पुव्वबद्धाणं ॥115 ॥  
 अर्थ—संयमासंयम अर्थात् देशसंयम की लब्धि, तथा चारित्र  
 अर्थात् सकल संयम की लब्धि, परिणामों की उत्तरोत्तर वृद्धि, और  
 पूर्व-बद्ध कर्मों की उपशामना इस अनुयोगद्वार में वर्णन करने  
 योग्य है ॥115 ॥

63. उवसामणा कदिविधा उवसामो कस्स कस्स कम्मस्स ।  
 कं कम्मं उवसंतं अणउवसंतं च कं कम्मं ॥116 ॥  
 64. कदिभागुवसामिज्झदि संकमणमुदीरणा च कदिभागो ।  
 कदिभागं वा बंधदि द्विदि-अणुभागे पदेसग्गे ॥117 ॥  
 65. केच्चिरमुवसामिज्झादि संकमणमुदीरणा च केवचिरं ।  
 केवचिरं उवसंतं अणउवसंतं च केवचिरं ॥118 ॥  
 66. कं करणं वोच्छिज्झदि अब्बोच्छिण्णं च होइ कं करणं ।  
 कं करणं उवसंतं अणउवसंतं च कं करणं ॥119 ॥  
 अर्थ—उपशामना कितने प्रकार की होती है ? उपशम किस-  
 किस कर्म का होता है ? किस-किस अवस्था-विशेष में कौन-कौन कर्म  
 उपशान्त रहता है और कौन-कौन कर्म अनुपशान्त रहता है ? ॥116 ॥  
 चारित्रमोहनीय कर्म की स्थिति, अनुभाग और प्रदेशाग्रों का

किस समय कितना भाग उपशमित करता है, कितना भाग संक्रमण  
 और उदीरणा करता है, तथा कितना भाग बाँधता है ? ॥117 ॥  
 चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृतियों का कितने काल तक  
 उपशमन करता है, संक्रमण और उदीरणा कितने काल तक होती  
 है, तथा कौन कर्म कितने काल तक उपशान्त या अनुपशान्त रहता  
 है ? ॥118 ॥  
 किस अवस्था में कौन करण व्युच्छिन्न हो जाता है और कौन  
 करण अव्युच्छिन्न रहता है ? तथा किस अवस्था-विशेष में कौन  
 करण उपशान्त या अनुपशान्त रहता है ? ॥119 ॥  
 67. पडिवादो च कदिविधो कम्मि क्सायम्मि होइ पडिवदिदो ।  
 केसिं कम्मंसाणं पडिवदिदो बंधगो होइ ॥120 ॥  
 68. दुविहो खलु पडिवादो भवक्खयादुवसमक्खयादो दु ।  
 सुहुमे च संपराए बादररागे च बोद्धव्वा ॥121 ॥  
 69. उवसामणाखएण दु पडिवदिदो होइ सुहुमरागम्मि ।  
 बादररागे णियमा भवक्खया होइ परिवदिदो ॥122 ॥  
 70. उवसामणाक्खएण दु अंसे बंधदि जहाणुपुव्वीए ।  
 एमेव य वेदयदे जहाणुपुव्वीय कम्मंसे ॥123 ॥  
 अर्थ—चारित्रमोहनीयकर्म का उपशम करनेवाले जीव का  
 प्रतिपात कितने प्रकार का होता है, वह प्रतिपात सर्वप्रथम किस

कषाय में होता है ? वह गिरते हुए किन-किन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध करनेवाला होता है ? ॥20॥

वह प्रतिपात दो प्रकार का होता है एक भवक्षय से और दूसरा उपशमकाल के क्षय से। तथा वह प्रतिपात सूक्ष्मसाम्परायनामक दशवें गुणस्थान में और बादरराग नामक नवें गुणस्थान में होता है; ऐसा जानना चाहिए ॥21॥

उपशमकालकेक्षय होने से जो प्रतिपात होता है वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में होता है। किन्तु भवक्षय से जो प्रतिपात होता है, वह नियम से बादरसाम्परायनामक नवें गुणस्थान में ही होता है ॥22॥

उपशमकाल के क्षय होने से गिरनेवाला जीव यथानुपूर्वी से कर्म-प्रकृतियों को बाँधता है। तथा इसीप्रकार यथानुपूर्वी से कर्म-प्रकृतियों का वेदन भी करता है (किन्तु भवक्षय से गिरनेवाले जीव के देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही सर्व करण प्रकट हो जाते हैं (8) ॥23॥

71. संकामयपट्टवगस्स किंङ्खिदियाणि पुव्वबद्धाणि ।

केसु व अणुभागेसु य संकतं वा असंकतं ॥24॥

अर्थ—संक्रमण-प्रस्थापक के पूर्वबद्ध कर्म किस स्थितिवाले हैं ? वे किस अनुभाग में वर्तमान हैं और उस समय कौन कर्म संक्रान्त हैं और कौन कर्म असंक्रान्त हैं ॥24॥

72. संकामगपट्टवगस्स मोहणीयस्स दो पुण ङ्खिदीओ ।

किंचूणियं मुहुत्तं णियमा से अंतरं होइ ॥25॥

73. झीणङ्खिदिकम्मंसे जे वेदयदे दु दोसु वि ङ्खिदीसु ।

जे चावि ण वेदयदे विदियाए ते दु बोद्धव्वा ॥26॥

अर्थ—संक्रमण-प्रस्थापक के मोहनीय कर्म की दो स्थितियाँ होती हैं—एक प्रथमस्थिति और दूसरी द्वितीयस्थिति। इन दोनों स्थितियों का प्रमाण कुछ कम मुहूर्त है। तत्पश्चात् नियम से अन्तर होता है ॥25॥

जो उदय या अनुदयरूप कर्म-प्रकृतियाँ परिक्षीण स्थितिवाली हैं, उन्हें उपर्युक्त जीव दोनों ही स्थितियों में वेदन करता है। किन्तु वह जिन कर्मांशों को वेदन नहीं करता है, उन्हें तो द्वितीयस्थिति में ही जानना चाहिए ॥26॥

अब मूलगाथा के उत्तरार्ध का अर्थ कहने के लिए चूर्णिकार उत्तरसूत्र कहते हैं—

74. संकामगपट्टवगस्स पुव्वबद्धाणि मज्झिमङ्खिदीसु ।

साद-सुहणाम-गोदा तहाणुभागेसुदुक्कस्सा ॥27॥

अर्थ—संक्रमण-प्रस्थापक के पूर्व-बद्ध कर्म मध्यम स्थितियों में पाये जाते हैं। तथा अनुभागों में सातावेदनीय, शुभ नामकर्म और उच्चगोत्र उत्कृष्ट रूप से पाये जाते हैं ॥27॥

अब मूलगाथा के 'संकंत' वा असंकंत' इस चतुर्थ चरण की विशेष व्याख्या करने के लिए ग्रन्थकार चौथी भाष्यगाथा का अवतार कहते हैं—

**75. अथ थीणगिद्धि कम्मं णिद्धाणिद्धा य पयलपयला य ।**

तह णिरय-तिरियणामा झीणा संछोहणादीसु ।॥28॥

अर्थ—अथ अर्थात् आठ मध्यम कषायों की क्षपणा के पश्चात् स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला, तथा नरकगित और तिर्यग्गति-सम्बन्धी नामकर्म की तेरह प्रकृतियाँ, इसप्रकार ये सोलह प्रकृतियाँ संक्रमण-प्रस्थापक के द्वारा अन्तर्मुहूर्त पूर्व ही सर्वसंक्रमण आदि में क्षीण की जा चुकी हैं ॥28॥

मूलगाथा के उक्त-चतुर्थ चरण का अवलम्बन करके इस समय होनेवाले स्थितिसत्त्व का प्रमाण-निर्धारण करने के लिए पाँचवीं भाष्यगाथा का अवतार करते हैं—

**76. संकंतमिह य णियमा णामा-गोदाणि वेयणीयं च ।**

वरस्सेसु असंखेज्जेसु सेसगा होंति संखेज्जे ।॥29॥

अर्थ—हास्यादि छह नोकषाय के पुरुषवेद के चिरंतन सत्त्व के साथ संक्रामक होने पर नियम से नाम, गोत्र और वेदनीय ये तीनों ही अघातिया कर्म असंख्यात वर्ष प्रमाण अपने-अपने स्थितिसत्त्व में

प्रवृत्त होते हैं। शेष ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति सत्त्ववाले होते हैं ॥29॥

**77. संकामगपट्टवगो के बंधदि के व वेदयदि अंसे ।**

संकामेदि व के के केसु असंकामगो होइ ।॥30॥

अर्थ—संक्रमण-प्रस्थापक जीव किन-किन कर्माशों को बांधता है, किन-किन कर्माशों का वेदन करता है और किन-किन कर्माशों का असंक्रामक रहता है ॥30॥

**78. वरस्सदसहस्साइं द्विदिसंखाए दु मोहणीयं तु ।**

बंधदि च सदसहस्सेसु असंखेज्जेसु सेसाणि ।॥31॥

अर्थ—द्विसमयकृत-अन्तरावस्था में वर्तमान संक्रमण-प्रस्थापक के मोहनीय कर्म तो वर्षशत-सहस्र स्थितिसंख्यारूप बंधता है और शेष कर्म असंख्यात शतसहस्र वर्ष प्रमाण स्थितियों में बंधते हैं ॥31॥

अब दूसरी भाष्यगाथा का अवतार करते हैं—

**79. भय-सोगमरदि-रदिगंहस्स-दुगं-छा-णुंसगित्थीओ ।**

असादं णीचागोदं अजसं सारीरगं णाम ।॥32॥

अर्थ—भय, शोक, अरति, रति, हास्य, जुगुप्सा, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, असातावेदनीय, नीचगोत्र, अयशःकीर्ति और शरीर नामकर्म ॥32॥



80. सव्वावरणीयाणं जेसिं ओवट्टणा दु णिद्दाए ।  
 पयलायुगस्स अ तहा अबंधगो बंधगो सेसे ॥३३॥  
 अर्थ—जिन सर्वावरणीय अर्थात् सर्वधातिया कर्मों की अपवर्तना होती है, उनका और निद्रा, प्रचला तथा आयुकर्म का भी अबन्धक रहता है; इनके अतिरिक्त शेष कर्मों का बन्ध करता है ॥३३॥  
 मूलगाथा के द्वितीय अर्थ में प्रतिबद्ध दोनों भाष्यगाथाओं की यथाक्रम से व्याख्या करने के लिए एक साथ समुत्कीर्तना और विभाषा करते हैं—

81. णिद्दा य णीचगोदं पचला णियमा अगि ति णामं च ।  
 छच्चेय णोकसाया अंसेसु अवेदगो होदि ॥३४॥  
 अर्थ—निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नीचगोत्र, अयशःकीर्ति और छह नोकषाय, इतने कर्मों का तो संक्रमण-प्रस्थापक नियम से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप सर्व अंशों में अवेदक रहता है ॥३४॥

अब दूसरी मूलगाथा के द्वितीय अर्थ—निबद्ध दूसरी भाष्यगाथा का अवतार करते हैं—

82. वेदे च वेदणीए सव्वावरणे तहा कसाए च ।  
 भयणिज्जो वेदंतो अभज्जगो सेसगो होदि ॥३५॥  
 अर्थ—वह संक्रमण-प्रस्थापक वेदों को, वेदनीय कर्म को,

सर्वधातिया प्रकृतियों को, तथा कषायों को वेदन करता हुआ भजनीय है । उक्त कर्म-प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष प्रकृतियों का वेदन करता हुआ अभजनीय है ॥३५॥

83. सव्वस्स मोहणीयस्स आणुपुव्वीय संकमो होदि ।  
 लोभकसाये णियमा असंकमो होइ णायव्वो ॥३६॥  
 अर्थ—मोहनीय कर्म की सर्व प्रकृतियों का आनुपूर्वी से संक्रमण होता है, किन्तु लोभ कषाय का संक्रमण नहीं होता है, ऐसा नियम से जानना चाहिए ॥३६॥

84. संकामगो च कोधं माणं मायं तहेव लोभं च ।  
 सव्वं जहाणुपुव्वी वेदादी संछुहदि कम्मं ॥३७॥  
 अर्थ—नव नोकषाय और चार संज्वलन इन तेरह प्रकृतियों का संक्रमण करनेवाला क्षपक नपुंसकवेद को आदि करके क्रोध, मान, माया और लोभ, इन सब कर्मों को यथानुपूर्वी से संक्रान्त करता है ॥३७॥

अब उक्त अर्थ को ही दो भाष्यगाथाओं के द्वारा विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं—

85. संछुहदि पुरिसवेदे इत्थीवेदं णवुंसयं चेव ।  
 सत्तेव णोकसाये णियमा कोहमि संछुहदि ॥३८॥  
 अर्थ—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का नियम से पुरुषवेद में

संक्रमण करता है। पुरुषवेद और हास्यादि छह, इन सात नोकषायों का नियम से संज्वलनक्रोध में संक्रमण करता है ॥38॥

**86. कोहं च छुहइ माणे माणं मायाए णियमसा छुहइ।**

**मायं च छुहइ लोहे पडिलोमो संकमो णत्थि ॥39॥**

**अर्थ**—संज्वलन क्रोध को नियम से संज्वलनमान में संक्रान्त करता है, संज्वलनमान को संज्वलनमाया में संक्रान्त करता है, संज्वलनमाया को संज्वलनलोभ में संक्रान्त करता है। इसप्रकार उक्त तेरह प्रकृतियों का आनुपूर्वी-संक्रमण जानना चाहिए। इनका प्रतिलोम अर्थात् विपरीतक्रम से अथवा यद्धा- तद्धा क्रम से संक्रमण नहीं होता ॥39॥

अब मूलगाथा के तीसरे अर्थ के विषय में ही कुछ अन्य विशेषता को बतलाने के लिए पांचवी भाष्यगाथा का अवतार करते हैं—

**87. जो जम्हि संछुहंतो णियमा बंधसरिसम्हि सींछुहइ।**

**बंधेण हीणदरगे अहिए वा संकमो णत्थि ॥40॥**

**अर्थ**—जो जीव जिस बध्यमान प्रकृति में संक्रमण करता है, वह नियम से बन्ध-सदृश प्रकृति में ही संक्रमण करता है; अथवा बन्ध की अपेक्षा हीनतर स्थितिवाली प्रकृति में संक्रमण करता है। किन्तु अधिक स्थितिवाली प्रकृति में संक्रमण नहीं होता ॥40॥

**88. संकामगपट्टवगो माणकसायस्स वेदगो कोधं।**

**संछुहदि अवेदंतो माणकसाये कमो सेसे ॥41॥**

**अर्थ**—मान कषाय का वेदन करनेवाला वही संक्रमण-प्रस्थापक जीव क्रोध संज्वलनको नहीं वेदन करते हुए भी उसे मान कषाय में संक्रान्त करता है। यही क्रम शेष कषाय में भी जानना चाहिए ॥41॥

**89. बंधो व संकमो वा उदयो वा तह पदेस-अणुभागे।**

**अधिगो समो व हीणो गुणेण किं वा विसेसेण ? ॥42॥**

**अर्थ**—संक्रमण-प्रस्थापक के अनुभाग और प्रदेश-सम्बन्धी बन्ध, उदय और संक्रमण परस्पर में क्या समान हैं, अथवा अधिक हैं, अथवा हीन हैं ? इसीप्रकार प्रदेशों की अपेक्षा वे संख्यात, असंख्यात या अनन्त गुणितरूप विशेष से परस्पर हीन हैं, या अधिक हैं ? ॥42॥

**90. बंधेण होइ उदओ अहिओ उदएण संकमो अहिओ।**

**गुणसेढि अणंतगुणा बोद्धव्वा होइ अणुभागे ॥43॥**

**अर्थ**—बन्ध से उदय अधिक होता है और उदय से संक्रमण अधिक होता है। इसप्रकार अनुभाग के विषय में गुणश्रेणी अनन्तगुणी जानना चाहिए ॥43॥

**91. बंधेण होइ उदओ अहिओ उदएण संकमो अहिओ।**

**गुणसेढि असंखेज्जा च पदेसग्गेण बोद्धव्वा ॥44॥**

अर्थ—बन्ध से उदय अधिक होता है और उदय से संक्रमण अधिक होता है। इसप्रकार प्रदेशाग्र की अपेक्षा गुणश्रेणी असंख्यातगुणी जानना चाहिए ॥44॥

**92. उदओ च अणंतगुणो संपहि-बंधेण होइ अणुभागे।**

से काले उदयादो संपहि-बंधो अणंतगुणो ॥45॥

अर्थ—अनुभाग की अपेक्षा साम्प्रतिक-बन्ध से साम्प्रतिक-बन्ध अनन्तगुणा होता है। इसके अनन्तर काल में होनेवाले उदय से साम्प्रतिक-बन्ध अनन्तगुणा है ॥45॥

**93. गुणसेढि अणंतगुणेणूणाए वेदगो दु अणुभागे।**

गणणादियंतसेढी पदेस-अग्गेण बोद्धव्वा ॥46॥

यह संक्रामक संयत अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग का प्रति समय अनन्तगुणित हीन गुणश्रेणीरूप से वेदक होता है। किन्तु प्रदेशाग्र की अपेक्षा गणनातिक्रान्त अर्थात् असंख्यातगुणित श्रेणीरूप से वेदक जानना चाहिए ॥46॥

**94. बंधो व संकमो वा उदओ वा किं सगे सगे द्वाणे।**

से काले से काले अधिओ हीणो समो वा पि ॥47॥

अर्थ—बन्ध, संक्रम और उदय स्वक स्वक स्थान पर तदनन्तर तदनन्तर काल की अपेक्षा क्या अधिक हैं, हीन हैं, अथवा समान हैं ? ॥47॥

**95. बंधोदएहिं णियमा अणुभागो होदि णंतगुणहीणो।**

से काले से काले भज्जो पुण संकमो होदि ॥48॥

अर्थ—अनुभाग, बन्ध और उदय की अपेक्षा तदनन्तर-काल तदनन्तर-काल में नियम से अनन्तगुणित हीन होता है। किन्तु संक्रमण भजनीय है ॥48॥

**96. गुणसेढि असंखेज्जा च पदेसग्गेण संकमो उदओ।**

से काले से काले भज्जो बंधो पदेसग्गे ॥49॥

अर्थ—प्रदेशाग्र की अपेक्षा संक्रमण और उदय उत्तरोत्तर काल में असंख्यात गुणित श्रेणिरूप होते हैं। किन्तु बन्ध प्रदेशाग्र में भजनीय है ॥49॥

**97. गुणदो अणंतगुणहीणं वेदयदि णियमसा दु अणुभागे।**

अहिया च पदेसग्गे गुणेण गणणादियंतें ॥50॥

अर्थ—अनुभाग में गुणश्रेणी की अपेक्षा नियम से अनन्तगुणा हीन वेदन करता है। किन्तु प्रदेशाग्र में गणनातिक्रान्त गुणितरूप श्रेणी के द्वारा अधिक है ॥50॥

**98. किं अंतरं करेंतो बद्धदि हायदि द्विदी य अणुभागे।**

णिरुवक्कमा च वड्डी हाणी वा केच्चिरं कालं ॥51॥

अर्थ—अन्तर को करता हुआ वह कर्मों की स्थिति और अनुभाग को क्या बढ़ाता है, अथवा घटाता है ? तथा स्थिति और

अनुभाग को बढ़ाते और घटाते हुए निरुपक्रम अर्थात् अन्तर-रहित वृद्धि अथवा हानि कितने काल तक होती है ? ॥51॥

99. ओवट्टणा जहण्णा आवलिया ऊणिया तिभागेण ।

एसा द्विदीसु जहण्णा तहाणुभागे सणंतेसु ॥52॥

अर्थ—जघन्य अपवर्तना का प्रमाण त्रिभाग से हीन आवली है। यह जघन्य अपवर्तना स्थितियों के विषय में ग्रहण करना चाहिए। किन्तु अनुभाग-विषयक जघन्य अपवर्तना अनन्त स्पर्धकों से प्रतिबद्ध है। अर्थात् जब तक अनन्त स्पर्धक अतिस्थापनारूप से निक्षिप्त नहीं हो जाते हैं, तब तक अनुभाग-विषयक-अपवर्तनाकी प्रवृत्ति नहीं होती है ॥52॥

100. संकामेदुक्कड्ढदि जे अंसे ते अवट्टिदा होंति ।

आवलियं से काले तेण परं होंति भजिदव्वा ॥53॥

अर्थ—जो कर्मरूप अंश संक्रमित, अपकर्षित या उत्कर्षित किये जाते हैं, वे आवली प्रमित काल तक अवस्थित रहते हैं, अर्थात् उनमें हानि, वृद्धि आदि कोई क्रिया नहीं होती है। उसके पश्चात् तदनन्तर समय में वे भजितव्य हैं। अर्थात् संक्रमणावली के व्यतीत होने पर उनमें वृद्धि, हानि आदि अवस्थाएँ कदाचित् हो भी सकती हैं और कदाचित् नहीं भी हो सकती हैं ॥53॥

101. ओकड्ढदि जे अंसे से काले ते च होंति भजियव्वा ।

वड्ढीए अवट्टाणे हाणीए संकमे उदए ॥54॥

अर्थ—जो कर्मांश अपकर्षित किये जाते हैं वे अनन्तर काल में स्थिति आदि की वृद्धि, अवस्थान, हानि, संक्रमण और उदय, इनकी अपेक्षा भजितव्य हैं। अर्थात् जिन कर्मांशों का अपकर्षण किया जाता है, उनके अपकर्षण किये जाने के दूसरे ही समय में ही वृद्धि, हानि आदि अवस्थाओं का होना संभव है ॥54॥

102. एक्कं च द्विदिविसेसं तु द्विदिविसेसेसु कदिसु वड्ढेदि ।

हरसेदि कदिसु एगं तहाणुभागेसु बोद्धव्वं ॥55॥

अर्थ—एक स्थिति विशेष को कितने स्थितिविशेषों में बढ़ाता है और एक स्थिति विशेष को कितने स्थिति विशेषों में घटाता है ? इसीप्रकार पृच्छाएँ अनुभागविशेषों में जानना चाहिए ॥55॥

103. एक्कं च द्विदिविसेसं तु असंखेजेसु द्विदिविसेसेसु ।

वड्ढेदि हरस्सेदि च तहाणुभागे सणंतेसु ॥56॥

अर्थ—एक स्थितिविशेष को असंख्यात स्थितिविशेषों में बढ़ाता है और घटाता भी है। इसीप्रकार अनुभाग विशेष को अनन्त अनुभागस्पर्धकों में बढ़ाता और घटाता है ॥56॥

104. द्विदि अनुभागे अंसे के के वड्ढदि के व हरस्सेदि ।

केसु अवट्टाणं वा गुणेण किं वा विसेसेण ॥57॥

अर्थ—स्थिति और अनुभाग-सम्बन्धी कौन-कौन अंश अर्थात् कर्म-प्रदेशों को बढ़ाता अथवा घटाता है ? अथवा किन-किन अंशों में अवस्थान करता है ? और यह वृद्धि, हानि और अवस्थान किस-किस गुण से विशिष्ट होता है ? ॥57॥

105. ओवड्हेदि द्विदिं पुण अधिगं हीणं च बंधसमगं वा ।

उक्कड्हुदि बंधसमं हीणं अधिगं ण द्वड्हेदि ॥58॥

अर्थ—स्थिति का अपकर्षण करता हुआ कदाचित् अधिक स्थिति का भी अपकर्षण करता है, कदाचित् हीन स्थिति का भी, और कदाचित् बन्ध-समान स्थिति का भी। स्थिति का उत्कर्षण करता हुआ बन्ध-समान या बन्ध से अल्प स्थिति का ही उत्कर्षण करता है, किन्तु अधिक स्थिति को नहीं बढ़ाता है ॥58॥

106. सव्वे वि य अणुभागे ओकड्हुदि जे ण आवलियपविट्ठे ।

उक्कड्हुदि बंधसमं णिरुवक्कम होदि आवलिया ॥59॥

अर्थ—उदयावली के बाहिर स्थित सभी अर्थात् बन्ध-सदृश या उससे अधिक अनुभाग का अपकर्षण करता है। किन्तु जो अनुभाग आवली-प्रविष्ट हैं, अर्थात् उदयावली के अन्तःस्थित हैं, वह अपकर्षित नहीं करता है। बन्धसदृश अनुभाग आक उत्कर्षण करता है, उससे अधिक का नहीं। आवली अर्थात् बन्धावली निरुपक्रम होती है, क्योंकि वह उत्कर्षण-अपकर्षण के बिना निर्व्याघातरूप से अवस्थित रहती है ॥59॥

107. वड्डीदु होदि हाणी अधिगा हाणीदु तह अवट्ठाणं ।

गुणसेट्ठि असंखेज्जा च पदेसग्गेण बोद्धव्वा ॥60॥

अर्थ—वृद्धि अर्थात् उत्कर्षण से हानि अर्थात् अपकर्षण अधिक होता है और हानि से अवस्थान अधिक है। यह अधिक का प्रमाण प्रदेशाग्र की अपेक्षा असंख्यात गुणित श्रेणीरूप जानना चाहिए ॥60॥

108. ओवदृणमुव्वट्ठण किट्ठीवज्जेसु होदि कम्मेसु ।

ओवट्ठणा च णियमा किट्ठीकरणम्हि बोद्धव्वा ॥61॥

अर्थ—अपवर्तन अर्थात् अपकर्षण और उद्वर्तन अर्थात् उत्कर्षण कृष्टि-वर्जित कर्मों में होता है। किन्तु अपवर्तना नियम से कृष्टिकरण में जानना चाहिए ॥61॥

109. केवदिया किट्ठिओ कम्हि कसायम्हि कदि च किट्ठीओ ।

किट्ठीए किं करणं लक्खणमध किं च किट्ठीए ॥62॥

अर्थ—कृष्टियाँ कितनी होती हैं, और किस कषाय में कितनी कृष्टियाँ होती हैं ? कृष्टि करने में कौन सा करण होता है और कृष्टि का लक्षण क्या है ? ॥62॥

110. बारस णव छ तिण्णि य किट्ठीओ होंति अधव अणंताओ ।

एक्केक्कम्हि कसाये तिग तिग अधवा अणंताओ ॥63॥

अर्थ—संज्वलनक्रोधादि कषायों की बारह, नौ, छह और

तीन कृष्टियाँ होती हैं, अथवा अनन्त कृष्टियाँ होती हैं। एक-एक कषाय में तीन-तीन कृष्टियाँ होती हैं, अथवा अनन्त कृष्टियाँ होती हैं ॥163॥

111. किट्टी करेदि णियमा ओवट्टं तो ठिदी य अणुभागे।

वड्डंतो किट्टीए अकारगो होदि बोद्धव्वो ॥164॥

अर्थ—चारों संज्वलन कषायों की स्थिति और अनुभाग का नियम से अपवर्तन करता हुआ ही कृष्टिओं को करता है। स्थिति और अनुभाग का बढ़ानेवाला कृष्टि का अकारक होता है ऐसा नियम जानना चाहिए ॥164॥

112. गुणसेट्ठि अणंतगुणा लोभादि कोधपच्छिमपदादो।

कम्मस्स य अणुभागे किट्टीए लक्खणं एदं ॥165॥

अर्थ—लोभ कषाय की जघन्य कृष्टि को आदि लेकर क्रोध कषाय की सर्व पश्चिम पद अर्थात् अन्तिम उत्कृष्ट कृष्टि तक यथाक्रम से अवस्थित चारों संज्वलन कषायरूप कर्म के अनुभाग में गुणश्रेणी अनन्तगुणित है, यह कृष्टि का लक्षण है ॥165॥

113. कदिसु च अणुभागेसु च द्विदीसु वा केत्तियासु का किट्टी।

सव्वासु वा द्विदीसु च आहो सव्वासु पत्तेयं ॥166॥

अर्थ—कितने अनुभागों में और कितनी स्थितियों में कौन कृष्टि वर्तमान है ? यदि प्रथम, द्वितीयादि सभी स्थितियों में सभी

कृष्टियाँ संभव हैं, तो क्या उनकी सभी अवयवस्थितियों में भी अविशेषरूप से सभी कृष्टियाँ संभव हैं, अथवा प्रत्येक स्थिति पर एक-एक कृष्टि संभव है ? ॥166॥

114. किट्टी च द्विदिविसेसेसु असंखेज्जेसु णियमसा होदि।

णियमा अणुभागेसु च होदि हु किट्टी अणंतेसु ॥167॥

अर्थ—सभी कृष्टियाँ सर्व असंख्यात स्थिति-विशेषों पर नियम से होती हैं। तथा प्रत्येक कृष्टि नियम से अनन्त अनुभागों में होती है ॥167॥

115. सव्वाओ किट्टीओ विदियद्विदीए दु होंति सव्विस्से।

जं किट्ठिं वेदयदे तिस्से अंसो च पढमाए ॥168॥

अर्थ—सभी संग्रहकृष्टियाँ और उनकी अवयवकृष्टियाँ समस्त द्वितीयस्थिति में होती हैं। किन्तु वह जिस कृष्टिका वेदन करता है, उसका अंश प्रथम स्थिति में होता है। (क्योंकि, अवेद्यमान कृष्टियों का प्रथमस्थिति में होना संभव नहीं है) ॥168॥

116. किट्टी च पदेसग्गेणणुभागग्गेण का च कालेण।

अधिगा समा व हीणा गुणेण किं वा विसेसेण ॥169॥

अर्थ—कौन कृष्टि किस कृष्टि से प्रदेशाग्र की अपेक्षा, अनुभागाग्र की अपेक्षा और काल की अपेक्षा अधिक है, हीन है, अथवा समान

है ? इसप्रकार गुणों की अपेक्षा एक कृष्टि से दूसरी कृष्टि में क्या विशेषता है ? ॥69॥

117. विद्यादो पुण पढमा संखेज्जगुणा भवे पदेसग्गे ।

विद्यादो पुण तदिया कमेण सेसा विसेसहिया ॥70॥

अर्थ—क्रोध की द्वितीय संग्रहकृष्टि एस उसकी ही प्रथम संग्रहकृष्टि प्रदेशाग्र की अपेक्षा संख्यातगुणी होती है। किन्तु द्वितीय संग्रहकृष्टि से तृतीय संग्रहकृष्टि विशेष अधिक होती है। इसप्रकार यथाक्रम से शेष अर्थात् मान, माया और लोभ सम्बन्धी तीनों तीनों संग्रहकृष्टियाँ विशेष अधिक होती हैं ॥70॥

118. विद्यादो पुण पढमा संखेज्जगुणा दु वग्गणग्गेण ।

विद्यादो पुण तदिया कमेण सेसा विसेसहिया ॥71॥

अर्थ—क्रोध की द्वितीय संग्रहकृष्टि से प्रथम संग्रहकृष्टि वर्गणाओं के समूह की अपेक्षा संख्यातगुणी है। किन्तु क्रोध की द्वितीय संग्रहकृष्टि से तृतीय संग्रहकृष्टि विशेष अधिक है। इसी क्रम से शेष अर्थात् मान, माया और लोभ की संग्रहकृष्टियाँ विशेष-विशेष अधिक जानना चाहिए ॥71॥

119. जा हीणा अणुभागेणहिया सा वग्गणा पदेसग्गे ।

भागेणऽणंतिमेण दु अधिगा हीणा च बोद्धव्वा ॥72॥

अर्थ—जो वर्गणा अनुभाग की अपेक्षा हीन है, वह प्रदेशाग्र

की अपेक्षा अधिक है। ये वर्गणाएँ अनन्तवें भाग से अधिक या हीन जानना चाहिए ॥72॥

120. कोधादिवग्गणादो सुद्धं कोधस्स उत्तरपदं तु ।

सेसो अणंतभागो णियमा तिस्से पदेसग्गे ॥73॥

अर्थ—क्रोध कषाय का उत्तरपद अर्थात् चरम कृष्टि प्रदेशाग्र क्रोध कषाय की आदि अर्थात् जघन्य वर्गणा में से घटाना चाहिए। इसप्रकार घटाने पर जो शेष अनन्तवाँ भाग बचता है, वह नियम से क्रोध की जघन्य वर्गणा के प्रदेशाग्र में अधिक है ॥73॥

121. एसो कमो च कोधे माणे णियमा च होदि मायाए ।

लोभमहि च किट्ठीए पत्तेगं होदि बोद्धव्वो ॥74॥

अर्थ—क्रोधसंज्वलन की कृष्टि के विषय में जो यह क्रम कहा गया है, वही क्रम नियम से मानसंज्वलन, मायासंज्वलन और लोभसंज्वलन की कृष्टि में भी प्रत्येक का है, ऐसा जानना चाहिए ॥74॥

122. पढमा च अणंतगुणा विद्यादो णियमसा दु अणुभागो ।

तदियादो पुण विद्या कमेण सेसा गुणेणऽहिया ॥75॥

अर्थ—क्रोधसंज्वलन की प्रथम संग्रहकृष्टि द्वितीय संग्रहकृष्टि से अनुभाग की अपेक्षा नियम से अनन्तगुणी है। पुनः तृतीय संग्रहकृष्टि से द्वितीय संग्रहकृष्टि भी अनन्तगुणी है। इसी क्रम से मान, माया और लोभ संज्वलन की तीनों तीनों संग्रहकृष्टियाँ तृतीय से

द्वितीय और द्वितीय से प्रथम उत्तरोत्तर अनन्तगुणी जानना चाहिए ॥75॥

**123. पढमसमयकिट्टीणं कालो वस्सं व दो व चत्तारि ।**

**अट्ठ च वस्साणि द्विदी विदियद्विदीए समा होदि ॥76॥**

अर्थ—प्रथम समय में कृष्टियों का स्थितिकाल एक वर्ष, दो वर्ष, चार वर्ष और आठ वर्ष है। द्वितीयस्थिति और अन्तर स्थितियों के साथ प्रथमस्थिति का यह काल कहा गया है ॥76॥

**124. जं किट्ठिं वेदयदे जवमज्झं सांतरं दुसु द्विदीसु ।**

**पढमा जं गुणसेढी उत्तरसेढी य विदिया दु ॥77॥**

अर्थ—जिस कृष्टि को वेदन करता है, उसमें प्रदेशाग्र का अवस्थान यवमध्यरूप से होता है और वह यवमध्य प्रथम तथा द्वितीय इन दोनों स्थितियों में वर्तमान हो करके भी अन्तर-स्थितियों से अन्तरित होने के कारण सान्तर है। जो प्रथमस्थिति है, वह गुणश्रेणीरूप है अर्थात् उत्तरोत्तर समयों में प्रदेशाग्र असंख्यातगुणित क्रम से उसमें अवस्थित हैं और जो द्वितीयस्थिति है, वह उत्तर श्रेणीरूप है अर्थात् आदि समय में स्थूलरूप होकर भी वह उत्तरोत्तर समयों में विशेष हीनरूप से अवस्थित है ॥77॥

**125. विदियद्विदि आदिपदा सुद्धं पुण होदि उत्तरपदं तु ।**

**सेसो असंखेज्जदिमो भागो तिस्से पदेसग्गे ॥78॥**

अर्थ—द्वितीय स्थिति के आदिपद अर्थात् प्रथम निषेक के प्रदेशाग्र में से उसके उत्तर पद अर्थात् चरम निषेक के प्रदेशाग्र को घटाना चाहिए। इसप्रकार घटाने पर जो असंख्यातवाँ भाग शेष रहता है, वह उस प्रथम निषेक के प्रदेशाग्र में अधिक है ॥78॥

**126. उदयादि या द्विदीओ गिरंतरं तासु होइ गुणसेढी ।**

**उदयादि पदेसग्गं गुणेण गणणादियंतेण ॥79॥**

अर्थ—उदयकाल से आदि लेकर प्रथमस्थिति सम्बन्धी जितनी स्थितियाँ हैं, उनमें निरन्तर गुणश्रेणी होती है। उदयकाल से लेकर उत्तरोत्तर समयवर्ती स्थितियों में प्रदेशाग्र गणना के अन्त अर्थात् असंख्यातगुणित रूप से अवस्थित हैं ॥79॥

**127. उदयादिसु द्विदीसु य जं कम्मं नियमसा दु तं हरस्सं ।**

**पविसदि द्विदिक्खएण दु गुणेण गणणादियंतेण ॥80॥**

अर्थ—उदय को आदि लेकर यथाक्रम से अवस्थित प्रथमस्थिति की अवयवस्थितियों में जो कर्मरूप द्रव्य है, वह नियम से आगे-आगे ह्रस्व अर्थात् कम-कम है। उदयस्थिति से ऊपर अनन्तर स्थिति में जो प्रदेशाग्र स्थिति के क्षय से प्रवेश करते हैं, वे असंख्यातगुणित रूप से प्रवेश करते हैं ॥80॥

**128. वेदगकालो किट्टीय पच्छिमाए दु नियमसा हरस्सो ।**

**संखेज्जदिभागेण दु सेसग्गाणं कमेणऽधिगो ॥81॥**



अर्थ—पश्चिम कृष्टि अर्थात् संज्वलन लोभ की सूक्ष्मसाम्परायिक नामावाली अन्तिम बारहवीं कृष्टि का वेदककाल नियम से अल्प है, अर्थात् सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान का जितना काल है, वही बारहवीं कृष्टि के वेदन का काल है। पश्चादानुपूर्वी से शेष ग्यारह कृष्टियों का वेदनकाल क्रमशः संख्यातवें भाग से अधिक है ॥81॥

129. कदिसु गदीसु भवेसु य द्विदि-अणुभागेसु वा कसाएसु।

कम्माणि पुव्वबद्धाणि कदीसु किट्ठीसु च द्विदीसु ॥82॥

अर्थ—कितनी गतियों में, भवों में, स्थितियों में, अनुभागों में और कषायों में पूर्वबद्ध कर्म कितनी कृष्टियों में और उनकी कितनी स्थितियों में पाये जाते हैं ? ॥82॥

130. दोसु गदीसु अभज्जाणि दोसु भज्जाणि पुव्वबद्धाणि।

एइंदिय कायेसु च पंचसु भज्जा ण च तसेसु ॥83॥

अर्थ—पूर्वबद्ध कर्म दो गतियों में अभजनीय है और दो गतियों में भजनीय हैं। तथा एकेन्द्रिय जाति और पाँच स्थावरकायों से भजनीय हैं, शेष चार जातियों में और त्रसकाय में भजनीय नहीं हैं ॥83॥

131. एइंदियभवग्गहणेहिं असंखेज्जेहिं णियमसा बद्धं।

एगादेगुत्तरियं संखेज्जेहिं य तमभवेहिं ॥84॥

अर्थ—कृष्टिवेदक क्षपक के असंख्यात एकेन्द्रिय-भवग्रहणों

के द्वारा बद्ध कर्म नियम से पाया जाता है। तथा एक को आदि लेकर दो, तीन आदि संख्यात भवों के द्वारा संचित कर्म पाया जाता है ॥84॥

132. उक्कस्सय अणुभागे द्विदि उक्कस्साणि पुव्वबद्धाणि।

भजियव्वाणि अभज्जाणि होंति णियमा कसाएसु ॥85॥

अर्थ—उत्कृष्ट अनुभागविशिष्ट और उत्कृष्ट स्थितिविशिष्ट पूर्वबद्ध कर्म भजितव्य हैं। कषायों में पूर्वबद्ध कर्म नियम से अभाज्य हैं ॥85॥

133. पज्जत्तापज्जत्तेण तधा त्थीपुण्णवुंसयमिस्सेण।

सम्मत्ते मिच्छत्ते केण च जोगोवजोगेण ॥86॥

अर्थ—पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था के साथ, तथा स्त्री, पुरुष और नपुंसकवेदक के साथ, मिश्रप्रकृति, सम्यक्त्वप्रकृति और मिथ्यात्वप्रकृति के साथ, तथा किस योग और किस उपयोग के साथ पूर्व बद्ध कर्म कृष्टिवेदक क्षपक के पाये जाते हैं ? ॥86॥

134. पज्जत्तापज्जत्ते मिच्छत्त णवुंसए च सम्मत्ते।

कम्माणि अभज्जाणि दु त्थी-पुरिसे मिस्सगे भज्जा ॥87॥

अर्थ—पर्याप्त-अपर्याप्त दशा में, मिथ्यात्व, नपुंसकवेद और सम्यक्त्व अवस्था में बाँधे हुए कर्म अभाज्य हैं। तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और सम्यग्मिथ्यात्व अवस्था में बाँधे हुए कर्म भाज्य हैं ॥87॥

135. ओरालिये सरीरे ओरालियमिस्सए च जोगे दु ।

चदुविधमण-वचिजोगे च अभज्जा सेसगे भज्जा ।॥88॥

अर्थ—औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, चतुर्विध मनोयोग और चतुर्विध वचनयोग में बाँधे हुए कर्म अभाज्य हैं। शेष योगों में बाँधे हुए कर्म भाज्य हैं ॥88॥

136. अध सु-मदिउवजोगे होंति अभज्जाणि पुव्वबद्धाणि ।

भज्जाणि च पच्चक्खेसु दोसु छदुमत्थणाणेसु ।॥89॥

अर्थ—मति और कुमतिरूप उपयोग में तथा श्रुत और कुश्रुतरूप उपयोग में पूर्व बद्ध कर्म अभाज्य हैं। किन्तु दोनों प्रत्यक्ष छद्मस्थ-ज्ञानों में पूर्वबद्ध कर्म भाज्य हैं ॥89॥

137. कम्माणि अभज्जाणि दु अणगार-अचक्खुदंसणुवजोगे ।

अध ओहिदंसणे पुण उवजोगे होंति भज्जाणि ।॥90॥

अर्थ—अनाकार अर्थात् चक्षुदर्शनोपयोग और अचक्षु-दर्शनोपयोग में पूर्वबद्ध कर्म अभाज्य हैं; किन्तु अवधिदर्शनोपयोग में पूर्वबद्ध कर्म कृष्टिवेदक क्षपक के भाज्य हैं ॥90॥

138. किलेस्साए बद्धाणि केसु कम्मेसु वट्टमाणेण ।

सादेण असादेण च लिंगेण च कम्हि खेत्तम्हि ।॥91॥

अर्थ—किस लेश्या में, किन-किन कर्मों में तथा किस क्षेत्र में (और किस काल में) वर्तमान जीव के द्वारा बाँधे हुए, तथा साता,

असाता और किस लिंग के द्वारा बाँधे हुए कर्म कृष्टिवेदक क्षपक के पाये जाते हैं ॥91॥

139. लेस्सा साद असादे च अभज्जा कम्म-सिप्प-लिंगे च ।

खेत्तम्हि च भज्जाणि दु समाविभागे अभज्जाणि ।॥92॥

अर्थ—सर्व लेश्याओं में, तथा साता और असाता में वर्तमान जीव के पूर्वबद्ध कर्म अभाज्य हैं। असि, मषि आदिक सभी कर्मों में, सभी शिल्पकार्यों में, सभी पाखण्डी लिंगों में, और सर्व क्षेत्र में बाँधे हुए कर्म भाज्य हैं। समा अर्थात् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीरूप काल के सर्व विभागों में पूर्वबद्ध कर्म अभाज्य हैं ॥92॥

140. एदाणि पुव्वबद्धाणि होंति सव्वेसु द्विदिविसेसेसु ।

सव्वेसु चाणुभागेसु णियमसा सव्वकिट्टीसु ।॥93॥

अर्थ—ये पूर्वबद्ध (अभाज्य) कर्म सर्व स्थितिविशेषों में, सर्व अनुभागों में और सर्व कृष्टियों में नियम से होते हैं ॥93॥

141. एगसमयप्पबद्धा पुण अच्छुत्ता केत्तिगा कहिं द्विदीसु ।

भवबद्धा अच्छुत्ता द्विदीसु कहिं केत्तिया होंति ।॥94॥

अर्थ—एक समय में बाँधे हुए कितने कर्म प्रदेश किन-किन स्थितियों में अछूते अर्थात् उदयस्थिति को अप्राप्त रहते हैं। इसीप्रकार कितने भवबद्ध कर्म-प्रदेश किन-किन स्थितियों में असंक्षुब्ध रहते हैं ॥94॥

142. छह आवलियां अच्छुता गियमसा समयपबद्धा ।

सव्वेसु द्विदिविसेसाणुभागेसु च चउण्हं पि ।।95।।

अर्थ—अन्तरकरण करने से उपरिम अवस्था में वर्तमान क्षपक के छह आवलियों के भीतर बँधे हुए समयप्रबद्ध नियम से अछूते हैं । (क्योंकि अन्तरकरण के पश्चात् छह आवली के भीतर उदीरणा नहीं होती है ।) वे अछूते समयप्रबद्ध चारों ही संज्वलन कषाय सम्बन्धी सभी स्थितिविशेषों में और सभी अनुभागों में अवस्थित रहते हैं ।।95।

143. जा चावि बज्झमाणी आवलिया होदि पढमकिट्टीए ।

पुव्वावलिया गियमा अणंतरा चदुसु किट्टीसु ।।96।।

अर्थ—जो बध्यमान आवली है, उसके कर्मप्रदेश क्रोधसंज्वलन की प्रथम कृष्टि में पाये जाते हैं । इस पूर्व आवली के अनन्तर जो उपरिम अर्थात् द्वितीयावली है, उसके कर्मप्रदेश नियम से क्रोधसंज्वलन की तीन और मानसंज्वलन की प्रथम, इन चार संग्रह कृष्टियों में पाये जाते हैं ।।96।

144. तदिया सत्तसु किट्टीसु चउत्थी दससु होइ किट्टीसु ।

तेण परं सेसाओ भवन्ति सव्वासु किट्टीसु ।।97।।

अर्थ—तीसरी आवली सात कृष्टियों में, चौथी आवली दश कृष्टियों में और उससे आगे की शेष सर्व आवलियाँ सर्व कृष्टियों में पाई जाती हैं ।।97।

145. एदे समयपबद्धा अच्छुता गियमसा इह भवहि ।

सेसा भवबद्धा खलु संछुद्धा होंति बोद्धव्वा ।।98।।

अर्थ—ये ऊपर कहे गये छहों आवलियों के इस वर्तमान भव में ग्रहण किये गये समयप्रबद्ध नियम से असंक्षुब्ध रहते हैं, अर्थात् उदय या उदीरणा को प्राप्त नहीं होते हैं; किन्तु शेष भवबद्ध अर्थात् कर्मस्थिति के भीतर होनेवाले भवों में बाँधे हुए सर्व समयप्रबद्ध उदय में संक्षुब्ध होते हैं ।।98।

146. एगसमयपबद्धाणं सेसाणि च कदिसु द्विदिविसेसेसु ।

भवसेसगाणि कदिसु च कदि कदि वा एगसमएण ।।99।।

अर्थ—एक समय में बँधे हुए और नाना समयों में बँधे हुए समयप्रबद्धों के शेष कितने कर्म-प्रदेश कितने स्थितिविशेषों में और अनुभागविशेषों में पाये जाते हैं ? इसीप्रकार एक भव और नाना भवों में बँधे हुए कितने कर्मप्रदेश कितने स्थितिविशेषों में और अनुभागविशेषों में पाये जाते हैं ? तथा एक समयरूप एक स्थितिविशेष में वर्तमान कितने कर्मप्रदेश एक-अनेक समयप्रबद्ध और भवबद्धों के शेष पाये जाते हैं ? ।।99।

147. एकम्मि द्विदिविसेसे भवसेसगसमयपबद्धसेसाणि ।

गियमा अणुभागेसु य भवन्ति सेसा अणंतेसु ।।200।।

अर्थ—एक स्थितिविशेष में नियम से एक-अनेक भवबद्धों

एक समयप्रबद्ध-शेष और एक-अनक समयों में बँधे हुए कर्मों के समयप्रबद्ध शेष असंख्यात होते हैं। और वे समयप्रबद्ध-शेष नियम से अनन्त अनुभागों में वर्तमान होते हैं 200।

**148. द्विदि-उत्तरसेदीए भवसेस-समयप्रबद्धसेसाणि।**

**एगुत्तरमेगादी उत्तरसेदी असंखेज्जा। 201॥**

**अर्थ**—एक को आदि लेकर एक-एक बढ़ाते हुए जो स्थितियों की वृद्धि होती है, उसे स्थिति-उत्तरश्रेणी कहते हैं। इसप्रकार की स्थिति-उत्तरश्रेणी में भवबद्ध-शेष और समयप्रबद्ध-शेष असंख्यात होते हैं 201।

**149. एक्कम्मि द्विदिविसेसे सेसाणि ण जत्थ होंति सामण्णा।**

**आवलिगासंखेज्जदिभागो तहिं तारिसो समयो। 202॥**

**अर्थ**—जिस किसी एक स्थितिविशेष में समयप्रबद्ध-शेष और भवबद्ध-शेष सम्भव हैं, वह सामान्यस्थिति और जिसमें वे सम्भव नहीं वह असामान्यस्थिति कहलाती है। उस क्षपक के वर्षपृथक्त्वमात्र स्थितिविशेष में तादृश अर्थात् भवबद्ध और समयप्रबद्ध-शेष से विरहित असामान्य स्थितियाँ अधिक से अधिक आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण पाई जाती हैं 202।

**150. एदेण अंतरेण दु अपच्छिमाए दु पच्छिमे समए।**

**भव-समयसेसगाणि दु णियमा तम्हि उत्तरपदाणि। 203॥**

**अर्थ**—इस अनन्तर-प्ररूपित आवली के असंख्यातवें भागप्रमित उत्कृष्ट अन्तर से उपलब्ध होनेवाली अपश्चिम (अन्तिम) असामान्य स्थिति के समय के अर्थात् तदनन्तर समय में पाई जानेवाली उपरिम स्थिति में भवबद्ध-शेष और समयप्रबद्ध-शेष नियम से पाये जाते हैं और उसमें अर्थात् उस क्षपक की अष्टवर्षप्रमित स्थिति के भीतर उत्तरपद होते हैं 203।

**151. किट्ठीकदम्मि कम्मे द्विदि-अणुभागेसु केसु सेसाणि।**

**कम्माणि पुव्वबद्धाणि बज्झमाणाणुदिण्णाणि। 204॥**

**अर्थ**—मोहनीय कर्म के निरवशेष अनुभागसत्कर्म के कृष्टिकरण करने पर अर्थात् अकृष्टिरूप से अवस्थित अनुभाग को कृष्टिरूप से परिणमित कर देने पर कृष्टिवेदन के प्रथम समय में वर्तमान जीव के पूर्वबद्ध ज्ञानावरणीयादि कर्म किन स्थितियों में और किन अनुभागों में शेष अर्थात् अवशिष्ट रूप से पाये जाते हैं ? तथा बध्यमान अर्थात् वर्तमान समय में बँधनेवाले और उदीर्ण अर्थात् वर्तमान में उदय आनेवाले कर्म किन-किन स्थितियों और अनुभागों में पाये जाते हैं ? 204।

**152. किट्ठीकदम्मि कम्मे णामा-गोदाणि वेदणीयं च।**

**वस्सेसु असंखेज्जेसु सेसगो होंति संखेज्जा। 205॥**

**अर्थ**—मोहनीय कर्म के कृष्टिकरण कर देने पर नाम, गोत्र

और वेदनीय ये तीन कर्म असंख्यात वर्षोंवाले स्थितिसत्त्वों में पाये जाते हैं। शेष चार घातिया कर्म संख्यात वर्ष प्रमित स्थितिसत्त्वरूप पाये जाते हैं 205।

**153. किट्टीकदम्मि कम्मे सादं सुहणाममुच्चगोदं च।**

**बंधदि च सदसहस्से द्विदिमणुभागेसुदुक्खस्सं। 206 ॥**

अर्थ—मोहनीय कर्म के कृष्टिकरण कर देने पर वह कृष्टिवेदक क्षपक सातावेदनीय, यशःकीर्तिनामक शुभनामकर्म और उच्चगोत्र ये तीन अघातिया कर्म संख्यात शतसहस्र वर्ष प्रमाण में स्थिति को बाँधता है। तथा वह कृष्टिवेदक इन तीनों कर्मों के स्वयोग्य उत्कृष्ट अनुभाग को बाँधता है 206।

**154. किट्टीकदम्मि कम्मे के बंधदि के व वेदयदि अंसे।**

**संकामेदि च के के केसु असंकामगो होदि। 207 ॥**

अर्थ—मोहनीय कर्म के कृष्टि रूप से परिणमा देने पर कौन-कौन कर्म को बाँधता है और कौन-कौन कर्मों के अंशों का वेदन करता है ? किन-किन कर्मों का संक्रमण करता है और किन-किन कर्मों में असंक्रामक रहता है, अर्थात् संक्रमण नहीं करता है ? 207।

**155. दससु च वस्सस्संतो बंधदि णियमा दु सेसगे अंसे।**

**देसावरणीयाई जेसिं ओवट्टणा अत्थि। 208 ॥**

अर्थ—क्रोध-प्रथम कृष्टिवेदक के चरम समय में शेष कर्मांशों

की अर्थात् मोहनीय को छोड़कर शेष तीन घातिया कर्मों की नियम से अन्तर्मुहूर्त कम दश वर्ष प्रमाण स्थिति का बन्ध करता है। घातिया कर्मों में जिन-जिन कर्मों की अपवर्तना संभव है, उनका देशघातिरूप से ही बन्ध करता है। (तथा जिनकी अपवर्तना संभव नहीं है, उनका सर्वघातिरूप से बन्ध करता है।) 208।

**156. चरिमो बादररागो णामा-गोदाणि वेदणीयं च।**

**वस्सस्संतो बंधदि दिवसस्संतो य जं सेसं। 209 ॥**

अर्थ—चरमसमयवर्ती बादरसाम्परायिक क्षपक नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म को वर्ष के अन्तर्गत बाँधता है। तथा शेष जो तीन घातिया कर्म हैं, उन्हें एक दिवस के अन्तर्गत बाँधता है 209।

**157. चरिमो य सुहुमरागो णामा-गोदाणि वेदणीयं च।**

**दिवसस्संतो बंधदि भिण्णमुहुत्तं तु जं सेसं। 210 ॥**

अर्थ—चरमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपक नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म को एक दिवस के अन्तर्गत बाँधता है। शेष जो घातिया कर्म हैं, उन्हें भिन्न मुहुर्त-प्रमाण बाँधता है 210।

**158. अध सुदमदि-आवरणे च अंतराइए च देसमावरणं।**

**लद्धी यं वेदयदे सव्वावरणं अलद्धी य। 211 ॥**

अर्थ—मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म में जिनकी लब्धि अर्थात् क्षयोपशम विशेष को वेदन करता है, उनके देशघाति-

आवरणरूप अनुभाग का वेदन करता है। जिनकी अलब्धि है, अर्थात् क्षयोपशमविशेष सम्पन्न नहीं हुआ है उनके सर्वघाति आवरणरूप अनुभाग का वेदन करता है। अन्तराय कर्म का देशघाति-अनुभाग वेदन करता है ॥211॥

**159. जसणाममुच्चगोदं वेदयदि णियमसा अणंतगुणं ।**

गुणहीणमंतरायं से काले सेसगा भज्जा ॥212॥

अर्थ—कृष्टिवेदक क्षपक यशःकीर्ति नामकर्म और उच्चगोत्र कर्म इन दोनों कर्मों के अनन्तगुणित वृद्धि रूप अनुभाग का नियम से वेदन करता है। अन्तराय कर्म के अनन्तगुणित हानिरूप अनुभाग का वेदन करता है। अनन्तर समय में शेष कर्मों के अनुभाग भजनीय हैं ॥212॥

**160. किट्ठीकदम्मि कम्मे के वीचारा दु मोहणीयस्स ।**

सेसाणं कम्माणं तहेव के के दु वीचारा ॥213॥

अर्थ—संज्वलनकषायरूप कर्म के कृष्टिरूप से परिणत हो जाने पर मोहनीयकर्म के कौन-कौन वीचार अर्थात् स्थितिघातादि लक्षणवाले क्रियाविशेष होते हैं ? इसीप्रकार ज्ञानावरणादि शेष कर्मों के भी कौन-कौन वीचार होते हैं ? ॥213॥

**161. किं वेदंतो किट्ठिं खवेदि किं आवि संछुहंतो वा ।**

संछोहणमुदण च अणुपुव्वं अणुपुव्वं वा ॥214॥

अर्थ—क्या यह क्षपक कृष्टियों को वेदन करता हुआ क्षय करता है ? अथवा वेदन न कर संक्रमण करता हुआ ही क्षय करता है ? अथवा वेदन और संक्रमण दोनों को करता हुआ क्षय करता है, कृष्टियों को क्या आनुपूर्वी से क्षय करता है, अथवा अनानुपूर्वी से क्षय करता है ? ॥214॥

**162. पढमं विदियं तदियं वेदंतो वावि संछुहंतो वा ।**

चरिमं वेदयमाणो खवेदि उभएण सेसाओ ॥215॥

अर्थ—क्रोध की प्रथम कृष्टि, द्वितीय कृष्टि और तृतीय कृष्टि को वेदन करता हुआ और संक्रमण करता हुआ भी क्षय करता है। चरम अर्थात् अन्तिम बारहवीं सूक्ष्मसाम्प्रायिक कृष्टि को वेदन करता हुआ ही क्षय करता है। शेष कृष्टियों को दोनों प्रकार से क्षय करता है ॥215॥

**163. जं वेदंतो किट्ठिं खवेदि किं चावि बंधगो तिस्से ।**

जं चावि सुंछुहंतो तिस्से किं बंधगो होदि ॥216॥

अर्थ—कृष्टिवेदक क्षपक जिस कृष्टि को वेदन करता हुआ क्षय करता है, क्या उसका बन्धक भी होता है ? तथा जिस कृष्टि का संक्रमण करता हुआ क्षय करता है, उसका भी वह क्या बन्ध करता है ? ॥216॥

164. जं चावि संछुहंतो खवेदि किट्टि अबंधगो तिरसे ।

सुहुमहि संपराए अबंधगो बंधगिदरासिं । 217 ॥

अर्थ—जिस कृष्टि को भी संक्रमण करता हुए क्षय करता है, उसका वह बन्ध नहीं करता है । सूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टि के वेदनकाल में वह उसका अबन्धक रहता है । किन्तु इतर कृष्टियों के वेदन या क्षपणकाल में वह उनका बन्धक रहता है । 217 ।

165. जं जं खवेदि किट्टिं छिदि-अणुभागेसु केसुदीरेदि ।

संछुहदि अण्णकिट्टिं से काले तासु अण्णासु । 218 ॥

अर्थ—जिस-जिस कृष्टि का क्षय करता है, उस-उस कृष्टि को किस-किस प्रकार के स्थिति और अनुभागों में उदीरणा करता है ? विवक्षित कृष्टि को अन्य कृष्टि में संक्रमण करता हुआ किस-किस प्रकार के स्थिति और अनुभागों से युक्त कृष्टि में संक्रमण करता है ? तथा विवक्षित समय में जिस स्थिति और अनुभाग युक्त कृष्टियों में उदीरणा, संक्रमणादि किये हैं, अनन्तर समय में क्या उन्हीं कृष्टियों में उदीरणा-संक्रमणादि करता है, अथवा अन्य कृष्टियों में करता है ? 218 ।

166. बंधो व संकमो वा णियमा सव्वेसु छिदिविसेसेसु ।

सव्वेसु चाणुभागेसु संकमो मज्झिमो उदओ । 219 ॥

अर्थ—विवक्षित कृष्टि का बन्ध अथवा संक्रमण नियम से क्या

सभी स्थितिविशेषों में होता है ? विवक्षित कृष्टि का जिस कृष्टि में संक्रमण किया जाता है, उसके सर्व अनुभागविशेषों में संक्रमण होता है । किन्तु उदय मध्यम कृष्टिरूप से जानना चाहिए । 219 ।

167. संकामेदि उदीरेदि चावि सव्वेहिं छिदिविसेसेहिं ।

किट्टीए अणुभागे वेदंतो मज्झिमो णियमा । 220 ॥

अर्थ—सर्व स्थितिविशेषों के द्वारा क्या यह क्षपक संक्रमण और उदीरणा करता है ? कृष्टि के अनुभागों को वेदन करता हुआ नियम से मध्यम अर्थात् मध्यवर्ती अनुभागों को ही वेदन करता है । 220 ।

168. ओकड्ढिदि जे अंसे से काले किण्णु ते पवेसेदि ।

ओकड्ढिदे च पुव्वं सरिसमसरिसे पवेसेदि । 221 ॥

अर्थ—जिन कर्माशों का अपकर्षण करता है उनका अनन्तर समय में क्या उदीरणा में प्रवेश करता है ? पूर्व समय में अपकर्षण किये गये कर्माश अनन्तर समय में उदीरणा करता हुआ सदृश को प्रविष्ट करता है, अथवा असदृश को प्रविष्ट करता है ? 221 ।

169. उक्कड्ढिदि जे अंसे से काले किण्णु ते पवेसेदि ।

उक्कड्ढिदे च पुव्वं सरिसमसरिसे पवेसेदि । 222 ॥

अर्थ—जिन कर्माशों का उत्कर्षण करता है, उनको अनन्तर समय में क्या उदीरणा में प्रवेश करता है ? पूर्व समय में उत्कर्षण किये

गये कर्मांश अनन्तर समय में उदीरणा करता हुआ सदृशरूप से प्रविष्ट करता है, अथवा असदृशरूप से प्रविष्ट करता है ॥222॥

170. बंधो व संकमो वा उदयो वा तह पदेस-अणुभागे।

बहुगत्ते थोवत्ते जहेव पुव्वं तहेवेण्हिं ॥223॥

अर्थ—कृष्टिकारक के प्रदेश और अनुभाग-विषयक बन्ध, संक्रमण और उदय (किसप्रकार प्रवृत्त होते हैं ? इस विषय का ) बहुत्व या स्तोकत्व की अपेक्षा जिसप्रकार पहले निर्णय किया गया है, उसीप्रकार यहाँ पर भी निर्णय करना चाहिए ॥223॥

171. जो कम्मंसो पविसदि पओगसा तेण नियमसा अहिओ।

पविसदि ठिदिक्खएण दु गुणेण गणणादियंतेण ॥224॥

अर्थ—जो कर्मांश प्रयोग के द्वारा उदयावली में प्रविष्ट किया जाता है, उसकी अपेक्षा स्थितिक्षय से जो कर्मांश उदयावली में प्रविष्ट होता है, वह नियम से गणनातीत गुण से अर्थात् असंख्यात-गुणितरूप से अधिक होता है ॥224॥

172. आवलियं च पविट्ठं पओगसा नियमसा च उदयादी।

उदयादिपदेसगं गुणेण गणणादियंतेण ॥225॥

अर्थ—कृष्टिवेदक क्षपक के प्रयोग के द्वारा उदय है आदि में जिसके ऐसी आवली में अर्थात् उदयावली में प्रविष्ट प्रदेशाग्र नियम

से उदय से लगाकर आगे आवलीकाल-पर्यंत असंख्यातगुणित श्रेणीरूप से पाया जाता है ॥225॥

173. जा वग्गणा उदीरेदि अणंता तासु संकमदि एक्का।

पुव्वपविट्ठा नियमा एक्किस्से होंति च अणंता ॥226॥

अर्थ—जिन अनन्त वर्गणाओं को उदीर्ण करता है, उनमें एक-एक अनुदीर्यमाण कृष्टि संक्रमण करती है। तथा जो पूर्व-प्रविष्ट अर्थात् उदयावली में प्रविष्ट अनन्त अवेद्यमान वर्गणाएँ (कृष्टियाँ) हैं, वे एक-एक वेद्यमान मध्यम कृष्टि के स्वरूप से नियमतः परिणत होती हैं ॥226॥

174. जे चावि य अणुभागा उदीरिदा नियमसा पओगेण।

तेयप्पा अणुभागा पुव्वपविट्ठा परिणमंति ॥227॥

अर्थ—जितनी भी अनुभाग कृष्टियाँ प्रयोग की अपेक्षा नियम से उदीर्ण की जाती हैं, उतनी ही पूर्व-प्रविष्ट अर्थात् उदयावली-प्रविष्ट अनुभाग कृष्टियाँ परिणत होती हैं ॥227॥

175. पच्छिम-आवलियाए समयूणाए दु जे य अणुभागा।

उक्कस्स-हेट्ठिमा मज्झिमासु नियमा परिणमंति ॥228॥

अर्थ—एक समय कम पश्चिम आवली में ओज उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग-स्वरूप कृष्टियाँ हैं, वे मध्यवर्ती बहुभाग कृष्टियों में नियम से परिणमित होती हैं ॥228॥



176. किट्टीदो किट्टिं पुण संकमदि खएण किं पयोगेण।

किं सेसगम्हि किट्टीय संकमो होदि अण्णिस्से।229॥

अर्थ—एक कृष्टि से दूसरी कृष्टि को वेदन करता हुआ क्षपक पूर्व-वेदित कृष्टि के शेष अंश को क्या क्षय अर्थात् उदय से संक्रमण करता है, अथवा प्रयोग से संक्रमण करता है ? तथा पूर्ववेदित कृष्टि के कितने अंश के शेष रहने पर अन्य कृष्टि में संक्रमण होता है ? 229।

177. किट्टीदो किट्टिं पुण संकमदे णियमसा पओगेण।

किट्टीए सेसगं पुण दो आवलियासु जं बद्धं।230॥

एक कृष्टि के वेदित-शेष प्रदेशाग्र को अन्य कृष्टि में संक्रमण करता हुआ नियम से प्रयोग के द्वारा संक्रमण (क्षय) करता है। दो समय कम दो आवलियों में बँधा हुआ जो द्रव्य है, वह कृष्टि के वेदित-शेष प्रदेशाग्र का प्रमाण है 230।

178. समयूणा च पविट्ठा आवलिया होदि पढमकिट्टीए।

पुण्णा जं वेदयदे एवं दो संकमे होंति।231॥

अर्थ—एक समय कम आवली उदयावली के भीतर प्रविष्ट होती है और जिस संग्रह कृष्टि का अपकर्षण कर इस समय वेदन करता है, उस प्रथम कृष्टि की सम्पूर्ण आवली प्रविष्ट होती है, इसप्रकार दो आवलियाँ संक्रमण में होती हैं 231।

176. खीणेषु कसाएसु य सेसाणं के व होंति वीचारा।

खवणा व अखवणा वा बंधोदयणिज्जरा वापि।232॥

अर्थ—कषायों के क्षीण हो जाने पर शेष ज्ञानावरणादि कर्मों के कौन-कौन क्रिया विशेषरूप वीचार होते हैं ? तथा क्षपणा अक्षपणा, बन्ध उदय और निर्जरा किन-किन कर्मों की कैसी होती है ? 232।

180. संकामणमोवट्ठण-किट्टीखवणाए खीणमोहंते।

खवणा य आणुपुव्वी बोद्धव्वा मोहणीयस्स।233॥

अर्थ—इसप्रकार मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण होने तक संक्रमणाविधि, अपवर्तनाविधि और कृष्टिक्षपणाविधि इतनी ये क्षपणाविधियाँ मोहनीय कर्म की आनुपूर्वी से जानना चाहिए 233।

